Municipal Library,
NAINI TAL.

Class No. 891'38
Book No. J20P.
1387

हम समाज की अधोगति को देख रहे हैं। समाज के नेताओं द्वारा युवक और युवतियों की मुक्त कंठ से निंदा करते भी सुन रहे हैं; और सुन रहे हैं शिक्षा एवं स्वतंत्रता के नाम पर गालियाँ। समाज में बुराइयों की जड़ कहाँ पनपती है, कहाँ वह वृक्ष का रूप धारण करती है और कब उसमें विषैले फल लग जाते हैं। इसे जानने के लिए किसी को फ़ुर्सत नहीं। समाज तो उन विषैले फलों को ही तोड़कर फेंकना चाहता है। किन्तु वह यह नहीं सोचता कि जब तक वृक्ष बना है और उसकी जड़ें मज़बूत हैं, एक-दो को कौन कहे हज़ारों और लाखों फल लगते रहेंगे, और एक दिन ऐसा हो सकता है कि सारा समाज ही विषैला हो जाय।

'पुरखों के पाप' में बुराइयों की जड़ दिखाई गई है कि अनजान और होनहार बच्चे किस प्रकार अभिभावकों द्वारा पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में इन बुराइयों को सीखते हैं और फिर उसीकी ज्वाला में स्वयं भस्म होते हैं, इसका नग्न चित्र समाज के सामने रखा गया है। इन कहानियों में समाज के उन बड़े-बूढ़ों की भूलों को बतलाया गया है जिनके कारण उनकी संतान को कुमार्ग पर जाने का साहस हुआ है। कितना सीधा रास्ता और उद्देश्य रखा जाता है इन नवयुवकों के सामने, फिर भला कोमल हृदय, अपरिपक्व बुद्धि वाले कैसे न विनाश की ओर जायँ। कहानियाँ पढ़ने के बाद यदि आप सोचेंगे तो उस प्रकार की कोई-न-कोई घटना आपके आस-पास मिल जायगी।

प्रत्येक माता-पिता के लिए अनिवार्य

८४६
कहानियाँ

पुरखों के पाप

लेखक
जगन्नाथ प्रसाद
बी० ए०, एल-एल बी०

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

J 20

प्रथम संस्करण, १९४७

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल
Class No. (विभाग ....891.38....
Book No. (पुस्तक) ....J 20 P....
Received on ....July 1938....

1387

मुद्रक—सदलराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद।
प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरोरोड, इलाहाबाद।

समर्पण

यह कहने में मुझे तनिक भी लज्जा या संकोच नहीं कि आरम्भ से ही मैं सौन्दर्योपासक रहा, और इस उपासना में स्त्रियों का विशेष स्थान रहा। स्त्रियों के बारे में यह लिखते हुए झिझकूँ भी क्यों जब पण्डित का पत्रा यही कहता है और मेरे ननिहाली, ददिहाली पुरखों के आमालनामें भी मुझमें यह गुण होना आवश्यक समझते हैं!

मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैं छः वर्ष का था, रायगढ़ में था। मुझे यह भी अच्छी तरह याद है, वहाँ कोई मास्टर साहब रहते थे जिनके यहाँ मेरे घर के लोगों का आना-जाना था, मेरे पिता के पिता वहाँ कोई बड़े आदमी थे। घर पर एक अच्छी खासी बैलगाड़ी थी, जो मनुष्य ढोती थी। उस सवारी गाड़ी में ऊँचे-ऊँचे बैल जुतते थे जिनके सींग चाँदी से मढ़े हुए थे। रोज शाम को कोचवान मुझे व मेरे छोटे भाई को, जो उस समय दो वर्ष का ही था, उसमें लादकर सैर कराने ले जाता था।

मास्टर साहब के एक लड़की थी। उस समय वह रही होगी १२-१३ वर्ष की। याद पड़ता है वह बड़ी सुन्दर थी, और अपने माँ-बाप की बड़ी लाड़ली। वह हमेशा मरदाने लिबास में रहती—बूटेदार रेशमी अचकन, चूड़ीदार पायजामा और कामदानी की किश्तीनुमा टोपी। उसकी चोटी टोपी के बाहर लटकती रहती, वह मेरे साथ कौड़ियाँ खेलती, और खेलते-खेलते लड़ने पर भी आमादा हो जाती। मास्टर साहब ने मेरे पितामह से कहा, 'आपके बच्चे सैर करने के लिये जाते ही हैं, कोचवान से कह दीजिये बिटिया को भी ले लिया करे, वह कई बार कह चुकी

है ।' और फिर वह 'बिटिया' भी मेरे साथ गाड़ी पर रोज शाम को सैर करने जाने लगी ।

गाड़ी तीन-चार मील दूर कुण्डेश्वर महादेव के मन्दिर तक जाकर लौट आती । लौटते-लौटते अँधेरा छा जाता । लौटते समय 'बिटिया' जिसको मैं जीजी कहता था, मुझे अपनी गोद में बिठा लेती, अपनी बाहों में कसकर इतने जोर से दबाती कि मेरी जान निकलने लगती । जब मैं छटपटाकर अपने को अलग करने का प्रयत्न करता तो वह धड़ाधड़ मेरा मुँह चूमने लगती और उसका यह व्यवहार मेरी समझ में न आता । परन्तु अब सब समझ में आ रहा है । उस बिटिया का मेरे ऊपर यह सारा प्रेम-प्रदर्शन अपरिपक्व आयु में उठती हुई उमंगों की भड़ास किसी न किसी प्रकार निकालकर मन समझाने का एक रास्ता था । परन्तु अपनी ज्ञान-शक्ति को क्या कहूँ ? उस समय उसका इस प्रकार का व्यवहार मेरी समझ में तो न आया परन्तु मुझे कौतूहल अवश्य होने लगा । नर और नारी के भेदों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ ।

और अब जब कभी विचार करता हूँ तो जान पड़ता है कि छः वर्ष की आयु में ही मेरा ध्यान स्त्रियों की ओर आकर्षित करने वाली, बूटेदार रेशमी अचकन, चूड़ीदार पायजामा और कामदानी की टोपी पहिने हुए, लम्बी चोटी वाली एक बारह-तेरह वर्ष की सुन्दर-सी लड़की थी, जिसका नाम, पता आदि मैं सब भूल चुका हूँ । पता नहीं वह आज दुनिया में है या नहीं, परन्तु यह अनुचित न होगा यदि जीवन के इस अंग में उन्हें अपना प्रथम गुरु मानकर उनको यह रचना समर्पण करूँ । यह उन्हीं को समर्पित है ।

—जगन्नाथप्रसाद

पाठकों से

मैं मूर्ख हूँ, अनुभवहीन हूँ, उद्दण्ड हूँ, उजड्ड हूँ; मेरे शब्द कठोर होते हैं, मैं किसीकी मान-मर्यादा का लिहाज़ न करके झड़ से बात कह देता हूँ; जो चाहिये सो नहीं करता, जो नहीं चाहिये सो करता हूँ।—अपने को यह सब मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं यदि मेरी बातों को सुनकर, समझकर और अपने पर ईमानदारी के साथ विश्वास करके आप मेरी बातों का उत्तर दे सकें, प्रमाणित कर सकें कि मैं झूठ कहता हूँ; नहीं तो फिर दुनिया के प्रलोभनों में भटकते हुए भी अपने को विरक्त, साधू, सन्यासी कहने वाले, दो हाथ, दो पैर और बिना पूँछ के जानवरों की तरह, मैं भी तो हाथ में पत्थर लेकर दूसरों को आदर्श का पाठ पढ़ाने, व दूसरों पर नाक-भौं सिकोड़ने वालों की समझ को नापने के लिये खड़ा हूँ। बुजुर्गी अक्ल से है, उम्र से नहीं। और यदि अक्ल का पक्ष लेकर बुजुर्गी के नाते मैं उम्र का पक्ष लेने वालों को कुछ सुनाना चाहूँ तो क्या हर्ज है! अपनी बात पर किसकी लेखिनी सबसे अच्छा चित्र खींच सकती है; अपनी बात पर, किसके विचार किसके दृष्टिकोण से अधिकारपूर्ण उत्तर हो सकते हैं, यह तो बाद में जानने की बात है, जब हम हों, आप हों, होश में नशा हो, नशे में होश हो। इस समय तो आपके सामने एक बात है—भावनाओं के झोपड़े में यथार्थ के पलीते से आग लगाने का एक प्रयत्न।

बहुत सम्भव है कि इस पुस्तक में आपको अपने घर की कोई टूटी-फूटी जोड़ी,. गाँठी दुनिया भर में फैली होते हुए भी

गुसलखानों के अन्दर या भूत-प्रेत द्वारा दुनिया का भला करने वाले किसी रम्माल के आगे फुस-फुसाई जाने वाली कहानी मिल जाय, क्योंकि आप ही लोगों के घरों से ही तो आदर्श, सिद्धान्त, धर्म, नियम, सुकर्म, कुकर्म, ईश्वर, स्वर्ग, नरक, सभी ढल-ढलकर निकले हैं ? और आप ही लोगों के घरों से तो कहानीकार के लिये सुन्दर कथानक मिलते हैं, सुन्दर-सुन्दर पात्र मिलते हैं, घटनाएं मिलती हैं, और बस इसी तरह सुन्दर कहानियाँ तैयार होती हैं। आप ही बतलाइये, कहानीकार आपके ही घरों में घुसकर माल-मसाला न इकट्ठा करे तो जाय कहाँ ? कोरी कल्पना से कहाँ तक और क्या-क्या पैदा करे ? फिर उसकी कल्पना का आधार भी तो वही है जो इन पाँचों इन्द्रियों से अनुभूत है । नाम खोजने का कष्ट न कीजियेगा। नाम जितने हैं, काल्पनिक हैं। हो सकता है बनारस में गंगा न हो, अथवा शहजादी बेगम मुसलमान न हो, अथवा नीरा का पोस्टमारटम हो जाने के बाद भी वह नाचने के लिये फ़िट क़रार दे दी गई हो। लेकिन इन बातों से आपको कोई प्रयोजन नहीं, शतरंज के मोहरे मैंने कहाँ से इकट्ठे किये, यह आपके जानने की बात नहीं है। आपको तो यह देखना है, और केवल इतना, कि शतरंज के मोहरे जमाकर, उनको आगे-पीछे खिसकाकर मैं आपको क्या समझाना चाहता हूँ और आप कहाँ मात खाते हैं, आपकी समझ में आ जाय, बस, मेरा काम समाप्त। उसके बाद आप जानें, आपका काम जानें ।

मेरा अनुभव है, सौ में से निन्यानबे लड़कियाँ अपने ही घर से बिगड़ती हैं। किसी न किसी रूप में उनके माता, पिता, भाई, भावज, उनके सम्पर्क में आने और रहने वाले सगे-सम्बन्धियों के चरित्र का प्रभाव उनके ऊपर पड़ता है, पड़कर

रहता है और वह प्रभाव धीरे-धीरे अपना काम किया करता है। आप पूछेंगे 'और उन लड़कियों की स्वयम् की सेक्स भावनाएँ मैं कहूँगा, उनकी स्वयं की सेक्स-भावनाएँ पैदा ही नहीं होने पातीं। लड़कियों के जीवन को प्रभावित करने की बात तो दरकिनार, उन भावनाओं के प्रादुर्भाव के पहिले ही वह अन्य लोगों के आचरण को देखकर, अपनी अपरिपक्व बुद्धि के सहारे उन्हीं के रंग में डूबकर उड़ चलती हैं। यदि कोई चौदह-पन्द्रह वर्ष का बच्चा कहता है, "मेरे बाप शराब पीते हैं, मैं भी पियूँगा, मैं क्यों न पियूँ?" तो आप इसको क्या कहेंगे? क्या इसे शराब के बारे में उसकी स्वयं की इच्छा, स्वयं का ज्ञान, स्वयं की उपजी हुई भावना कहेंगे या अपने बाप को शराब पीते देखकर अपने पर पड़ा हुआ प्रभाव और उसके पक्ष में बचपन का भोला-सा तर्क? और यदि वह चुराकर या खुल्लम-खुल्ला शराब पीने लगता है तो आप किसको दोष देंगे? यहीं पर मेरा आपसे मतभेद हो सकता है। माँ, बाप, भाई, बहिन के बीच रहती हुई लड़कियाँ यदि कुमार्गी बनती हैं, तो दोष किसका? यहाँ पर भी आपका और मेरा मत शायद एक न हो। लड़कियों के बिगड़ने के और भी तमाम कारण हो सकते हैं, परन्तु मैंने कहा न (और इतना ही कहता हूँ) कि 'मेरा अनुभव है, सौ में से निन्यानबे लड़कियाँ अपने घर से ही बिगड़ती हैं,' जिन अनुभवों के कारण मैं यह बात कहने पर तैयार हुआ हूँ, उन्हीं में से कुछ आपके आगे हैं।

—जगन्नाथ प्रसाद

१

जाड़े के दिन थे। मेरी आयु उस समय सोलह वर्ष की होगी। मिडिल में पढ़ता था। रात में सात बजे से दस बजे तक नरोत्तम के यहाँ पढ़ने जाता था। नरोत्तम मेरा सहपाठी था, जाति का बनिया था, परन्तु घर का अच्छा था। 'घर का अच्छा' होने से मेरा अभिप्राय यह कि सारा घर सुशिक्षित होने से सब लोग कहावती बनियों की परिभाषा से बहुत दूर थे। मकान के बायें हिस्से में, बाहर की तरफ़, जीने के पास, नीचे एक कोठरी थी, उसीमें बैठ कर हम दोनों पढ़ा करते थे। कोठरी में पीछे की ओर, थोड़ी ऊँचाई पर एक सींकचेदार खिड़की थी जो ऊपर, पीछे वाली छत पर खुलती थी।

जब घड़ी नौ बजाती, उस खिड़की से दूसरे-तीसरे दिन 'ऐ ! ऐ !!' की हलकी बारीक आवाज़ आती, नरोत्तम था चालाक। पहले तो दो-तीन बार उसने पुकार सुन कर न जाने क्या इशारा कर दिया कि मेरे सिर उठाने के पहले ही पुकारने वाली मूर्ति वहाँ से ग़ायब हो जाती। परन्तु जब उसने देखा कि मैं भी सत्याग्रही बना जा रहा हूँ और अब ग्यारह-बारह बजे से पहिले उठने का नाम नहीं लेता हूँ, तो मेरा संकोच

छोड़ दिया गया और मेरे सामने ही उस मूर्ति से बातें होने लगीं। सुगमता के लिये नरोत्तम ने मेरा परिचय भी करा दिया; मुझे विश्वासपात्र कह कर उनको विश्वास दिला दिया गया।

उन देवीजी का नाम था छाया, छाया देवी। वह नरोत्तम की दूर की रिश्तेदार होती थीं, क़रीब-क़रीब रोज ही नरोत्तम के यहाँ वह आतीं। और कोई कारण नहीं तो एक कारण नरोत्तम ही थे! छाया थी साँवली, छरहरे बदन की और आवश्यकता से अधिक चंचल। नरोत्तम 'नाहीं नाहीं' किया ही करता परन्तु छाया देवी उन्हें सींकचों के पीछे से क़समें खिला-खिला कर ऊपर बुला ही लेतीं। धीरे-धीरे छाया देवी दबे पैरों जीने से नीचे उतरने लगीं और फिर तो यह होने लगा कि वह छः बजे अपने घर से नरोत्तम के यहाँ आ जातीं, ताई के पास एक-दो घण्टे बैठतीं और फिर अपने घर चल देतीं। 'अपने घर' के अर्थ—घर जाने के बहाने उसी जीने से नीचे उतरतीं और लुप से नरोत्तम के कमरे में घुस जातीं। उस समय यदि किसी कार्यवश थोड़ी देर के लिये नरोत्तम वहाँ न भी होता, तो भी छाया देवी बैठ कर मुझसे बातें किया करतीं। संकोचवश मुझे बाहर का दरवाजा बन्द कर देना पड़ता। कहीं कोई घुस न आये, या देख न ले। देवीजी ही अधिकतर बातें किया करतीं; मैं केवल सुनता रहता, बोलता बहुत ही कम। जब तक नरोत्तम न आता, मुझे लगता जैसे मेरी मौत मेरे सिर पर मँडरा रही है। देवीजी की बातें सुनता रहता और ज्यामेट्री के प्रश्न हल किया करता। बनाने चलता चौकोण, बन जाता त्रिकोण, कभी पेन्सिल दावात में डुबो देता, कभी उल्टी क़लम।

एक रात करीब दस बजे, जब हम तीनों बैठे बातें कर रहे थे, अचानक किसी की भारी आवाज़ नरोत्तम को पुकारती हुई बाहर सुनाई दी। नरोत्तम के पैरों तले ज़मीन खिसक गई, वह काँपने लगा। आवाज़ नरोत्तम के पिता की थी जो बिना किसी सूचना के नौ बजे वाली गाड़ी से आ धमके थे। छाया देवी उचक कर एक कोने में जा घुसीं और मैं उनके सामने, उनको अपनी पीठ के पीछे छिपा कर खड़ा हो गया।

नरोत्तम ने हिम्मत धर कर दरवाज़ा खोला, लपक कर पिता के चरण छुए। पिता कह रहे थे, 'जियो बेटा, प्रसन्न रहो' और नरोत्तम उनका हाथ पकड़ कर ज़ीने पर चढ़ाये लिये जा रहा था और कहता जा रहा था—'अरे पिताजी, आपने कोई खबर ही न भेजी नहीं तो मैं स्टेशन पहुँच जाता, ताँगे में बेकार पैसे खर्च हुए होंगे, चाचाजी की मोटर निकलवा ले जाता.........' नरोत्तम ने उस समय ऐसी सफ़ाई से अभिनय किया कि बस, मैं मन ही मन प्रशंसा करता रहा। उन दोनों के चले जाने के बाद जब घूम कर मैंने कोने में सिकुड़ी हुई देवीजी की ओर देखा तो वह मुस्करा पड़ीं और धीरे से बोलीं, 'अब आप मुझे झटपट पहुँचा तो आइये', अपनी ओर उँगली से इशारा करते हुए मैंने पूछा, 'मैं ?' और देवीजी बोलीं, 'हाँ हाँ आप, मैं आज अकेले नहीं जा सकती।'

आना-कानी या बहस की गुंजायश न थी। दरवाज़े के बाहर इधर-उधर देख कर कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है, मैं देवीजी को ले कर निकला। देवीजी मेरे साथ-साथ चलने का प्रयत्न करती थीं और मैं उनसे दो क़दम आगे भागता था। मकान से कुछ दूर निकल जाने पर देवीजी ने व्यंग किया, 'आप तो इतना डर रहे हैं कि कभी कोई लड़की क्या डरी

होगी !' सच बात यह, उस समय उनकी इस बात का मैं उत्तर न दे सका और जाड़े की रात में माथे पर से पसीना पोंछ कर रह गया।

और शहरों में क्या कहते हैं यह तो नहीं मालूम पर उस शहर में माल रोड का 'हिन्दुस्तानी' तरजुमा ठंढी सड़क है। ठंढी सड़क को पार करते समय जब मैंने छाया देवी के घर की ओर जाने वाली सड़क पर पैर रखा तो वह बोलीं, 'सीधे चलिये, आज घर पर कोई नहीं है। पिताजी आज एक जलसे में गये हैं, मुझे वहीं छोड़ आइये'। मैंने पूछा, 'कहाँ ?' तो उत्तर मिला 'डाक्टर गुप्ता के बँगले पर, वहाँ खूब नाचरंग जमा हुआ है। डाक्टर के लड़के का आज मूँडन था न !' मेरा ख्याल है, डाक्टर गुप्ता का बँगला वहाँ से कुछ नहीं तो दो-ढाई फ़रलांग की दूरी पर होगा।

लम्बी, सुनसान सड़क, छिटकी हुई चाँदनी, इधर-उधर बँगलों के इर्द-गिर्द बगीचों में महकती हुई रात की रानी और धीरे-धीरे, बातें करते हुए चले जाने वाले दो प्राणी—एक सोलह वर्ष का उभरता हुआ निरा छोकरा और एक चौदह वर्ष की उभरी, निखरी, लड़की। उस समय जवानी की गर्मी इतनी नहीं थी जो जाड़े के भार को रोक सकती। मैं केवल एक सूती कुरता पहिने हुये था। दाँत कटकटा रहे थे। दोनों हाथों के पंजे बग़ल के नीचे दाबे था। देवीजी से बातें करने पर उतारू भी हुआ तो अपने को आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न करता हुआ। मैंने पूछा, 'तुम्हारे घरवाले तुम्हें कुछ नहीं कहते, कुछ नहीं पूछते कि तुम इतनी रात तक कहाँ रहती हो ?' उत्तर मिला, 'मुझे पूछने वाला है ही कौन ? माँ हैं नहीं, पिताजी दो-दो तीन-तीन रात घर लौट कर नहीं आते, सोंधा मास्टराइन

के घर पर पड़े रहते हैं; और भाई साहब का हाल तो आप जानते ही हैं ?'

उनके भाई साहब के बारे में नरोत्तम से अवश्य कुछ सुना था। वह स्थानीय स्कूल में ३५) माहवार पर टीचर थे और छोटे-छोटे सुन्दर बालकों से उनका विशेष प्रेम था। ताश के बड़े शौक़ीन थे। रोज़ रात को बारह-एक बजे तक होस्टल सुपरिन्टेन्डेन्ट के कमरे में डटे रहते। दो-दो चार-चार पैसे से रमी होती, कभी फ़लश उड़ जाता, कभी-कभी बोतल भी चल जाती। भंग तो खैर रोज़ ही घुटा करती थी।

और छाया देवी के पिता ? वह विधुर थे। कुछ अजीब-सी सूरत-शकल थी। पचपन वर्ष की आयु होगी; हाथी-सी आँखें, ऊँट-सा थूथन, घोड़े-से कान और सुअर-सा पेट। खिचड़ी मूछों का छोटा-सा झब्बा मुँह के अन्दर घुसने का प्रयत्न किया करता। चश्मा सदैव नाक की नोक पर धरा रहता था। और सोंधा मास्टराइन सुन्दरता में छाया देवी के पिता से कुछ कम न थीं। जोड़ी अच्छी थी। पटती भी खूब थी। वह विधवा थीं, यह विधुर थे। दोनों आजादी के साथ घूमते थे और बुढ़ापे की मजबूरियाँ समझ कर जवानी के मटके को खँघार-खँघार कर पी रहे थे। इन 'बूढ़ों' के इश्क़ को सारा शहर जानता था। और इस समय सोचता हूँ—यदि छाया देवी ने उस समय सारी बातें सुना कर मुझसे कुछ कहा था तो वह भले एक अनुभवहीन उच्छृङ्खल बालिका के हृदय की विद्रोहात्मक टिप्पणी हो, पर था सत्य। उसने कहा, 'पिताजी यदि पचपन वर्ष की सड़ी उम्र में इतने दीवाने हैं, तो मेरी तो उभरती जवानी है ! उनका मुँह क्या है जो मुझसे कुछ कहें ?'

डाक्टर गुप्ता का बँगला करीब आ गया था। मैं वहाँ ठिठका

ही था कि छाया देवी ने कहा, 'चलिये न !' मैंने नाहीं की। फिर हाथ पकड़ कर खींचती हुई बोलीं, 'अच्छा, चलिये थोड़ी दूर आगे चल कर, नदी किनारे बैठ कर दस मिनट बातें करें फिर आपके साथ ही वापस चली चलूँगी। क्या करूँगी डाक्टर गुप्ता के यहाँ इस वक्त जा कर ?' जाड़े की रात, ग्यारह साढ़े-ग्यारह का समय और नदी का किनारा—सुन कर शरीर काँप उठा। परन्तु छाया देवी की बातों में कुछ स्वाद आ चला था, कुछ उसकी बातों का मेरे ऊपर प्रभाव, कुछ उसके घर की हालत में दिलचस्पी, कुछ आकर्षण और कुछ उम्र का तक़ाज़ा। मैं बढ़ चला, हम दोनों नदी किनारे पहुँच कर बैठ गये। वहाँ पहुँच कर मालूम हुआ, सर्दी उतनी अधिक न थी जितना मैं डर रहा था।

साढ़े-बारह बजे जो वापस हुए तो डाक्टर गुप्ता के बँगले से निकलते हुए छाया देवी के पिताजी और सोंधा मास्टराइन से अकस्मात् भेंट हो गई। दोनों एक दूसरे की कमर में हाथ डाले नदी की ओर जाने के लिये घूमे थे, छाया देवी के पिताजी नाक ऊँची उठा कर चश्मे में से देखने का प्रयत्न करते ही रहे और सोंधा मास्टराइन ने पुकार कर कहा, 'छाया, तू इतनी रात को यहाँ कहाँ ?' छाया देवी उस समय वैसे ही लड़खड़ा रही थीं; इस मोरचे के लिये तैयार न थीं। उनके पिताजी चौंके 'क्या कहा, छाया ? तू यहाँ इस वक्त ? और यह कौन है तेरे साथ में ?' और सोंधा मास्टराइन ने चिल्ला-चिल्ला कर समझा दिया, 'यहाँ कहाँ और इस वक्त के क्या माने ? यार के साथ घूम रही है, मैं कहती थी न कि अपनी छोकरी को तनिक सम्हाल कर रखा करो, नहीं तो इसकी जवानी तुम्हारी बुढ़ौती में कालिख पोतेगी, कालिख !' देवीजी के पिताजी ने छड़ी उठा कर देवीजी को सड़ासड़ मारना शुरू कर दिया।

मैं उस समय बड़े असमञ्जस में था कि क्या करूँ। मेरे सोलह वर्ष के जीवन में अपनी क़िस्म की यह पहली घटना थी। पर जब उस बुड्ढे ने गालियों की बौछार करते हुए मेरे ऊपर छड़ी तानी तो मैंने झपट कर हाथ पकड़ लिया, छड़ी तोड़ कर फेंक दी, और भाग खड़ा हुआ। दूसरे दिन नरोत्तम से सारी कथा सुनाई, वह बोला, 'कल रात को शामत जरूर घेरे थी। मैं बच कर निकल गया, तुम फँस गये। ख़ैर, अब उससे कभी न मिलना।'

उस दिन के बाद फिर छाया देवी के दर्शन न हो सके। अभी दो वर्ष हुए, वह एकाएक कानपुर स्टेशन पर दिख गईं। मैं उन्हें पहचान न पाया, लेकिन उन्होंने लपक कर मुझसे नमस्ते किया। दस वर्ष बाद दिखी थीं। उनकी माँग में सेंदुर था, उनकी गोद में दो वर्ष का लल्ला था, और उँगली पकड़े एक पाँच वर्ष की लल्ली झूल रही थी। दोनों बच्चों के हाथों पर मैंने एक-एक रुपया रख दिया, लल्ला को चूम लिया और लल्ली के गाल पकड़ कर खींच लिये।

२

श्यामबिहारीलाल कायस्थ थे और लाला थे। कायस्थों में दो प्रकार के लोग होते हैं—बाबू और लाला। बाबू मैं उनको कहता हूँ जो लाँग इतनी कस कर बाँधते हैं कि धोती सलवार की तरह दोनों टाँगों को अलग-अलग घेर लेती है। लाला नाम उनका है जो लाँग इतनी ढीली बाँधते हैं, और इतनी नीची बाँधते हैं कि यदि लाँग का ख्याल छोड़ दिया जाय तो धोती तहमत-सी लिपटी हुई मालूम होने लगती है। श्यामबिहारीलाल

इस अर्थ में पूरे लाला थे, और साथ में वह सब गुण उनमें मौजूद थे जो बहुधा पुराने कायस्थ खानदान के लालाओं में पाये जाते हैं। घड़ी-घड़ी में हुक्का तर करना, चिलम भरना, अड़ोस-पड़ोस में गपशप लड़ाने जाना तो हुक्का साथ लटकाये लेते जाना, नंगे बदन, केवल धोती और खड़ाऊँ पहिने बाजार सब्जी लेने चले जाना, और बिना शराब व गोश्त के गले के नीचे निवाला न उतरना। साँवले थे, गाल पिचके हुए थे। जब वह पानी पीते तो हुक्के के धुएँ से धुआई हुई मूछें पानी में तैरतीं। पचासवाँ वर्ष पार कर चुके थे। कहीं बाहर स्टेशन मास्टर थे, सो तबादले से उस शहर में आ गये थे। जहाँ मैं रहता था। स्टेशन ही पर कार्टर में रहते थे। स्टेशन कुछ बहुत दूर न था। छोटी-सी छावनी में, छोटी लाइन का बिल्कुल सिरे वाला, छोटा-सा स्टेशन। वहाँ से गाड़ियाँ आगे नहीं जाती थीं, बस जिधर से आतीं, उधर ही लौट जातीं। स्टेशन के दक्षिण की ओर सब्जी मण्डी, उत्तर की ओर दस-पन्द्रह कदम पर सदर अस्पताल, माल रोड, और पश्चिम में स्टेशन की हद के बाहर से ही आबादी शुरू हो जाती थी।

लाला श्यामबिहारीलाल ने मेरे पिता से, या हो सकता है मेरे पिता ने उनसे बहरहाल किसी न किसी ने ढूँढ़-ढाढ़ कर कोई पुरानी रिश्तेदारी निकाल ली थी। धीरे-धीरे घर भर का आना-जाना आरम्भ हो गया। कभी लाला श्यामबिहारीलाल का कुटुम्ब मेरे यहाँ आता। दिन को एक दो बजे से चूल्हा-चकिया की और अपने-अपने मरदुओं की बातें होतीं, शाम को खाना-पीना होता, रात को गाना-बजाना होता, ढोलक पीटी जाती और सुबह आठ-नौ बजे तक चाय-पानी होने के बाद लाला श्यामबिहारीलाल की धर्मपत्नी अपने घर जा कर चूल्हा सुलगातीं।

कभी-कभी मेरे बाप का खटला उन लोगों के यहाँ जा कर मेहमानी करता।

लाला श्यामबिहारीलाल के कुटुम्ब में केवल तीन प्राणी थे: लाला, उनकी स्त्री जिनको बुढ़ापे में भी सुरमा, मिस्सी, कंघी चोटी से कुछ कम मोह न था और उनकी एक सोलह-सत्रह वर्ष की लड़की राजकुँअर। राजकुँअर थी तो गोरी-चिट्टी मगर कुछ सुन्दर न थी। ठिंगना-सा कद, चौड़ा-सा चेहरा, चेहरे पर हलके-हलके शीतला के दाग़। इन लोगों से रिश्तेदारी क्या थी, यह तो नहीं मालूम पर इतना अवश्य याद है कि वह मेरे पिता को जीजा कह कर पुकारती थी॥

मेरे पिता लाला के यहाँ जाते और राजकुँअर से बहनोई का रिश्ता निबाहने के लिये उससे ठिठोलबाज़ी किया करते। मैं जब वहाँ होता तो मेरे सामने कोई खास तकल्लुफ़ की जरूरत न पड़ती। मैं यह सब देखा-सुना करता, कभी-कभी यह अवश्य होता पिताजी मुझे डाँट कर वहाँ से भगा देते। माताजी मुझे राजकुँअर के यहाँ जाने से हमेशा मना करतीं, डाँटतीं, धमकातीं। कहतीं, 'अब जो गये तो तुम्हारे बाबू से तुम्हारी चमड़ी उधेड़वा दूँगी।' मैं पूछता क्यों न जाऊँ तो सफाई देतीं, 'वह लड़की अच्छी नहीं है'। जब पूछता 'तो बाबू क्यों जाते हैं?' तो उत्तर गायब। उत्तर मिलता तो गरम-गरम शब्दों से लिपटा हुआ, 'अब तुम अपने बाप को टोकने वाले पैदा हुए हो?' एक बार जब राजकुँअर इत्यादि मेरे यहाँ मेहमान थे, मैं अपने कमरे में पलंग पर लेटा हुआ था, और राजकुँअर कुर्सी पर बैठी हुई थी। उससे बातें हो रही थीं अपने एक मित्र के बारे में, जिससे उसके विवाह की बात चल रही थी। वह विवाह पूर्व ही अपने होने वाले पति को देख लेना चाहती थी और इसके

लिये केवल एक यही तरीका था कि उक्त मित्र को अपने मकान पर बुला कर बिठाऊँ और राजकुँअर उन्हें चुपचाप देख ले। माताजी ने देख लिया। (इस देख लेने में कोई बड़ी बात न थी, क्योंकि चारों ओर के दरवाजे खुले हुए थे।) मुझे फ़ौरन वहाँ से हटाया गया और उस दिन उन लोगों के चले जाने के बाद माताजी ने पिताजी से इतना नमक-मिर्च लगा कर शिकायत की कि मेरी अच्छी तरह मरम्मत हुई। मेरी दादी का दिमाग़ ख़राब था और पिताजी उनको बड़ी बेरहमी से मारा करते थे। मारने में उनका हाथ साफ़ हो गया था और कोई आश्चर्य की बात नहीं जो सत्रह-अठारह वर्ष की आयु में भी वह मुझ पर लकड़ी लेकर टूट पड़ें। मेरे पिता एक बार राजकुँअर के यहाँ से उसके घुँघरू उठा लाये। राजकुँअर को शायद नाचने का शौक़ था। पिताजी ने घुँघरू के पीछे उस बेचारी को बहुत हैरान किया। उसने पिताजी को जीजा जो बना लिया था। और राजकुँअर के कई बार कहने पर जो मैं घर से घुँघरू चुरा कर वापस कर आया तो दो-तीन थप्पड़, दो-चार घूँसे प्रसाद में मिले।

होली आई। अपने मित्रों के साथ होली का भडुआ बन कर, सिर से पैर तक रंग में डूबा हुआ जो स्टेशन क्वार्टर के पिछवाड़े से निकला तो खिड़की में से झाँकती हुई राजकुँअर ने मुझे पहचान लिया। मैंने उसकी ओर देखा तो उसने सबकी आँख बचा कर मुझे आने के लिये इशारा किया। एक मित्र ने देख लिया और मुझे तङ्ग करना शुरू किया। बड़ी कठिनाई से मैंने उसकी ज़बान बन्द की, और राजकुँअर को कोई उत्तर न दे सका। कुछ तो इस ख़्याल से कि इशारा करते हुए मुझे कोई देख न ले और कुछ इस ख़्याल से कि नाहीं कर न सकूँगा, हाँ करूँगा तो जाना पड़ेगा और फिर पिताजी जान गये तो मरम्मत

होगी। दो-तीन बजे जब रंग की गर्मी ठण्ढी हो गई तो नहा-धो कर, धुली हुई धोती-कमीज़ पहिन कर बाहर निकला और जाऊँ या न जाऊँ यह सोचते-सोचते मैं राजकुँअर के दरवाज़े पहुँच गया।

उनके यहाँ पुकार कर मैं कभी अन्दर न जाता था। दरवाज़े भिड़े हुए थे; मैंने धक्का दिया और वह खुल गये। मैं अन्दर घुस गया। कार्टर कोई बहुत बड़ा न था, मामूली स्टेशनों के मामूली से छोटे से जैसे कार्टर होते हैं वैसा ही था। दरवाज़े से घुसते ही सामने आँगन, उसके बाद दालान, दालान के बाद कमरा। आँगन में एक कोने में छाया हुआ छोटा-सा टीन का सायबान, जिसमें रसोई का इन्तज़ाम था। बस यही उस मकान का नक़्शा था। मैं जैसे ही अन्दर दाखिल हुआ, सामने का दृश्य देख कर ठिठक गया।

दालान में दरी बिछी थी। लाला श्यामबिहारीलाल और उनकी स्त्री दोनों बिल्कुल नंगे, एक दूसरे से लिपटे हुए अचेत पड़े सो रहे थे। दो शराब की बोतलें फर्श पर लुढ़क रही थीं। एक खाली, दूसरे में बरायनाम थोड़ी-सी बची हुई। थाली के छितर जाने से गोश्त का कटोरा उलट गया था सो फर्श पर हल्दी ही हल्दी दीख रही थी। संकोच ने कहा—'जिस तरह आये हो उसी तरह चुपचाप लौट चलो।'

परन्तु आँखों ने फिर देखा—कमरे के दरवाज़े की कुण्डी बाहर से बन्द है। आते समय पिछवाड़े की खिड़की पर नज़र पड़ गई थी और इतना जानता था कि राजकुँअर उसके अन्दर है, मैंने हिम्मत बटोरी, दबे पाँव आगे बढ़ा, उन दोनों को बचा कर दरवाज़े के पास पहुँचा और धीरे से कुण्डी खोल कर अन्दर झाँका। राजकुँअर एकदम चौंक पड़ी, फिर मुस्कराने

1387

लगी। उसने ओठों पर उँगली रख कर चुप रहने का इशारा किया। मैं अन्दर गया और चाहा कि उसे दालान वाला दृश्य दिखाऊँ। वह मुस्करा कर धीरे से बोली, 'अजी जो तुम आज देख रहे हो वह मैंने उम्र भर देखा है।'

मेरा दिल धड़क रहा था। वहाँ मैं अपने को चोर अनुभव कर रहा था। 'अच्छा चलूँ फिर आऊँगा' कह कर मैं खिसकने वाला ही था कि राजकुँअर मेरा हाथ पकड़ कर खींचने लगी और कसमें खिला-खिला कर पलंग पर बिठा दिया। कहने लगी, 'अजी, अब तीन-चार घण्टे से पहले दोनों में से कोई इस दुनिया की सुध नहीं ले सकता।'

बाहर से कुण्डी बन्द होना अभी तक मेरे दिमाग में घूम रहा था। वह क्यों बन्द की गई, इसका उत्तर पा लेना मूर्ख से मूर्ख के लिए सहज था, लेकिन उस समय मैं मूर्ख से भी अधिक हो रहा था। मैं राजकुँअर से पूछ बैठा, 'यह बाहर से कुण्डी क्यों बन्द की गई थी?' तो उसने मुँह बिचकाते हुए कहा, 'जवान लड़की हूँ न, कहीं यह सब देख कर बिगड़ न जाऊँ, इसलिये!' और यह कह कर वह उदास-सी हो गई, मुँह लटक गया। उसकी आँखें छलछला आईं। मेरे कन्धे पर हाथ रख कर कहने लगी, 'हर साल होली आती है और यही होता है। क्या मेरा जी नहीं चाहता, किसी से होली खेलूँ? मैं भी किसी के साथ हँसू-बोलूँ? क्या मेरे जवानी नहीं है, सारी जवानी इन्हीं बूढ़े-बुढ़ियों में समा कर रह गई है? हमेशा इसी तरह कोठरी में मुझे बन्द कर दिया जाता है जिससे मैं पिताजी की यह लीलायें न देखूँ, नहीं तो बिगड़ जाऊँगी'। आज सुबह खिड़की से जो मैंने तुम्हें इशारा किया तो माँ ने देख लिया और मुझे गालियाँ सुनाती हुई पिताजी से बोलीं—'अब यह राँड खिड़की से लौंडों

को इशारा करती है ! इसे किसी के गले पटेल दो, मैं कहे देती हूँ, मुझे ऐसी जवानी नहीं सुहाती।' मैंने पूछा, 'तुम्हारे पिता को तुम्हारे विवाह की तनिक भी चिन्ता नहीं ?' तो उत्तर मिला, 'अजी वह अपनी मस्ती से जागें, तो किसी और बात की चिन्ता हो। लोग कह-कह कर रह जाते हैं, मगर वह कोई लड़का ही देखने नहीं जाते, विवाह तय करना तो दूर की बात। कभी कहीं बात चली भी, तो लड़के वाले यह कह कर प्रश्न गिरा देते हैं कि लड़की के बाप को तो कोई चिंता ही नहीं, बात करने की फुरसत नहीं, औरों के तय किये विवाह नहीं होता'। वह अपने आँसू पोंछने लगी। मेरा दिल घबरा रहा था। फिर भी उसके आग्रह पर थोड़ी देर रुका।

गुझिया-पपड़ियाँ खा ही रहा था कि उसने एक लोटा रंग चुपके से मेरे सिर पर उँड़ेल दिया। मैं थोड़ा भन्नाया, और जैसे ही 'अजी आज होली है, कम-से-कम तुम तो न कुचलो मेरे अरमानों को' कह कर स्याही भरे हाथों से वह मेरा मुँह काला करने को बढ़ी, मैं भाग खड़ा हुआ। सीधे एक मित्र के यहाँ पहुँचा, वहीं फिर से साबुन रगड़-रगड़ कर स्नान किया, उस मित्र की कमीज-धोती लेकर पहनी, और घर लौटा।

करीब चार माह बाद अचानक लाला श्यामबिहारीलाल को अपने पिताजी से कहते सुना—स्टेशन पर काम करने वाले एक क्लर्क बाबू के साथ राजकुँअर भाग गई। और उसके बाद फिर आज तक उसके बारे में सुनने को न मिला।

२

इन्टरमीडियट में मेरे साथ पढ़ती थी एक कबूतरी। कबूतरी

नाम मेरा रखा नहीं है, बल्कि उन नवयुवक पण्डितों का जो कालेज के पिछवाड़े वाले मैदान में, 'पनघट' पर बैठ कर रोज़ लड़कियों के नये-नये नाम रखा करते थे। वैसे उसका नाम था रोहिणी गोखले। वह महाराष्ट्रीय लड़की थी। और उसकी सुन्दरता! हर शनिवार को कालेज के सौन्दर्योपासकों का एक जत्था स्टेशन के प्लेटफार्म पर बम्बई मेल देखने जाता और उसमें बैठी हुई, अथवा चढ़ती-उतरती कोई भी ज़नानी सवारी उनकी नजररेज़ी से बचने नहीं पाती। (बुरकेवालियाँ अलबत्ता महफ़ूज़ थीं)। जिस किसी भी सुन्दर महिला को वह देखते, तो उसका सौन्दर्य रोहिणी से नापा जाता। 'रोहिणी से अच्छी है या नहीं?' रोहिणी, कालेज ही में नहीं, वरन् दूर-दूर तक सुन्दरता की उच्चतम नाप हो रही थी। उसके पिता पुलिस में थानेदार थे और ऊपर की आमदनी जो हो सो हो, वेतन के नाम पर कुल ६०) रुपये माहवार पाते थे।

और कालेजों की भाँति उस कालेज में भी हर वर्ष उत्सव मनाया जाता था। उस कालेज में ठाठ तनिक अधिक रहते, क्योंकि ब्रिटिश भारत में फैले हुए असंख्य कालेजों की तरह इस मामले में उक्त कालेज अनाथ गरीब नहीं था। जी खोल कर रुपया खर्च होता। चार-पाँच दिन तक उत्सव चलता रहता—खेलकूद, व्याख्यान, डिनर, गायनवादन, कवि-सम्मेलन, मुशायरा, हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी व मराठी भाषाओं में रोज एक नाटक।

एक वर्ष उत्सव का प्रमुख अतिथि व सभापति एक ऐसा मनुष्य बनाया गया जो बहुत शक्तिशाली था। प्राणदण्ड से लेकर प्राणदान तक दे सकता था। उसके पास प्रत्येक शक्ति थी, साधन थे और उसकी इच्छाओं, उसके कृत्यों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की किसी में हिम्मत न थी। आवाज़ उठाई जाय, तो

उससे ऊँचा था ही कौन जिसको पुकारा जाय, जिसको सुनाया जाय। और वह समय भी ऐसा न था जब मनुष्य में अपने ही को सुना कर, अपने आप निर्णय कर लेने और उसके अनुसार कार्य कर चलने की आत्मशक्ति पैदा हो गई हो। इस समग्र काम चलाने के लिये उसका नाम रख लिया जाय 'राजा'। राजा से बढ़ कर ऐसे का और उत्तम व उपयुक्त नाम हो ही क्या सकता है?

कालेज में एक प्रोफ़ेसर थे—प्रोफ़ेसर टमटा। ऐसे अवसरों पर वह विशेष उत्साह दिखलाते और प्रिन्सिपल महोदय सारे इन्तजाम का भार उन्हीं पर छोड़ देते। प्रोफ़ेसर टमटा उन लोगों में से थे जो अपनी उन्नति के लिये कोई भी अच्छा-बुरा मार्ग नहीं छोड़ते और दूर की सूझ रखते हैं। हर वर्ष की भाँति उस वर्ष के उत्सव का इन्तजाम उनके ऊपर था। उन्होंने आँखें बन्द करके प्रोग्राम सोचा और फिर विचार किया कि किस महानुभाव, प्रमुख अतिथि, सभापति के आगे वह प्रोग्राम पेश करना है?

मिस रोहिणी के पास आप गये और बोले, 'आपके वायलिन का प्रोग्राम रहेगा।' प्रिन्सिपल ने स्वयं भी प्रोफ़ेसर टमटा की बात को हर प्रकार मजबूत कर दिया। मिस रोहिणी ने जो जाना कि राजा उसका वायलिन सुनेगा, तो फूल गई। मामला तय हो गया और उत्सव आरम्भ होने के एक दिन पहले प्रोफ़ेसर टमटा ने मिस रोहिणी को वायलिन बजाते समय बैठने का 'पोज़' बतलाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रोफ़ेसर टमटा एक पहुँचे हुए कलाकार थे, कम से कम सुन्दर चीज को सुन्दरता के साथ सुन्दर जगह पर जमा देने में।

राजा आये, राजा के साथ बड़े-बड़े लोग आये और कालेज

के सुसज्जित हॉल में उत्सव का उद्घाटन हुआ। डायस पर, एक ऊँची मखमल के गद्दों की कुर्सी पर राजा बैठे थे। दाहिनी ओर अधिकारी लोग, अफसर लोग; बाईं ओर महिलायें, सामने नगर के गण्यमान्य आमंत्रित सज्जन और उनके पीछे विद्यार्थी-गण। तनिक आगे बढ़ कर, एक कोने में, कुछ अन्य विद्यार्थियों के साथ मैं खड़ा हुआ था।

मिस रोहिणी गोखले आईं, सामने खड़ी हुईं, झुक कर मुजरा किया, प्रोफ़ेसर टमटा के बतलाये हुए पोज़ में बैठ गईं और वायलिन से निकली बहार की अलाप कमरे भर में छाने लगी। मिस रोहिणी अपनी सुन्दरता के साथ वायलिन बजाने में भी तो प्रसिद्ध थी।

राजा बिन ब्याहा जवान था और जवानी की सारी चेष्टायें उसमें मौजूद थीं। यदि उसमें लड़कियों की ओर घूर-घूर कर देखने की आदत हो तो कुछ अस्वाभाविक न था। लेकिन उस समय उसकी गर्दन ओहदे के भार से दबी थी। वह मिस रोहिणी को आँख भर, जी भर देखना चाहता था, लेकिन सीधे देखे भी तो कैसे? उसकी नज़र एक कोने से चलती; एक-एक शकल पर से फिसलती हुई, क्षण भर के लिये बीच में बैठी मिस रोहिणी से उलझ कर, फिर आगे बढ़ जाती। फिर सिर धीरे-धीरे घूमता। इस प्रकार वह मिस रोहिणी की रूप-सुधा को सबके सामने चुरा-चुरा कर पीने का प्रयत्न कर रहा था।

मैं और मेरे साथ खड़ा हुआ बाली—दोनों यह उड़ती हुई नज़रें ताड़ रहे थे। बाली ने मेरे कान में पूछा, 'बोलो यह खिचड़ी पकेगी या नहीं? और मैंने उत्तर दिया, 'खिचड़ी। पके न पके, बटलोई अवश्य उलट जायगी।'

मिस रोहिणी को राजा ने पुरस्कार में दिया एक सोने का मेडल, सौ रुपया नक़द, और एक सनद। कालेज की यूनियन के फ़ण्ड में दिये पाँच हज़ार, और प्रोफ़ेसर टमटा को, उनकी मेहनत के लिये, सुन्दर इन्तजाम के लिये, शिक्षा-विभाग को उन पर गर्व होने के कारण राजा ने इनाम में दिया एक महीने की तनख्वाह। नज़रे इनायत ही बहुत थी।

जिस महल में राजा रहता था, उसके पिछवाड़े एक लम्बी सड़क सीधी चली गई थी। महल के फाटक से शुरू हो कर सीधी; पता नहीं कहाँ! अच्छी खासी सड़क थी, राजाओं के चलने योग्य। महल के कारण उस पर लोग बहुत कम आने-जाने पाते थे। सड़क के दोनों ओर सुनहली वारनिश से रँगे हुए महराबदार बिजली के खम्भों में बड़े-बड़े सफ़ेद ग्लोब लटकते थे, उनमें से दूधिया प्रकाश रात भर सड़क पर बिखरा करता था। आगे चल कर, करीब एक मील दूर, बाँयें हाथ पर मिस रोहिणी गोखले का मकान था।

थोड़ा और आगे बढ़ कर, दाहिनी ओर अस्पताल के कार्टर थे और उन्हीं से मिले हुये चले गए चार-पाँच बँगले। एक बँगले में रहते थे हफ़ीज मिर्ज़ा, अस्पताल के एक कार्टर में रहती थीं मिस मैगी डीकुनहा। यह दोनों मेरे और मिस रोहिणी के साथ एक ही दर्जे में पढ़ते थे। गर्मी के दिन जाने को थे, जाड़ा आने को था। मैं हफ़ीज मिर्ज़ा के यहाँ उसके साथ पढ़ने के लिये जाता था। उधर मिस रोहिणी मिस मैगी के यहाँ जाने लगीं।

ठीक चार बजे मैं हफ़ीज़ के यहाँ से उठ खड़ा होता और उसी सड़क पर निकल कर मिस रोहिणी के मकान के पास वाले चौराहे से घूम कर अपने मकान की ओर चल देता। वही आसान रास्ता था। बहुधा यह हो जाता कि जिस समय मैं

हफ़ीज़ के बँगले से निकलता, उसी समय मिस रोहिणी मिस मैगी डिकुनहा के क्वार्टर से निकलतीं, और सड़क पर हम दोनों का साथ हो जाता। हम दोनों बातें करते हुए आते। वह अपने मकान में घुस जातीं, और मैं आगे बढ़ जाता।

और एक शाम को क़रीब साढ़े पाँच बजे, रोज़ से तनिक देर, मैं और मिस रोहिणी बातें करते हुए उसी सड़क पर उनके मकान की ओर चले आ रहे थे। महल की ओर से एक नीले रंग की रोल्स राइस कार चली आ रही थी। टेढ़ी फ़ेल्ट-हैट लगाये हुए ड्राइवर महोदय ने हम दोनों को देखा और एकदम से ब्रेक लगा दिये। मोटर के पहिये सड़क को रगड़ते हुए मुझसे चार क़दम पीछे झुक गये। उसने सिर निकाल कर फिर देखा और पुकारा, 'रोहिणी !'

मैंने घूम कर ग़ौर से देखा—राजा था, राजा। मिस रोहिणी को विश्वास नहीं हुआ। राजा और उसे पुकारे ? स्वप्न में भी विश्वास करने की बात न थी, लेकिन मैं जान गया था। क़िस्मत छप्पर फाड़ कर मिस रोहिणी गोखले की खोपड़ी पर राजा को टपका रही थी। मोटर पीछे करते हुए राजा ने तनिक ज़ोर से मराठी में कहा, 'मैं तुम्हीं को पुकार रहा हूँ, इधर आओ।' मिस रोहिणी ने मेरी ओर देखा और पूछा, 'जाऊँ क्या ?' मैं कह ही क्या सकता था ? मैं जानता था कि उस समय राजा की कृपा-दृष्टि मेरी ओर भी हो सकती थी और वह मिस रोहिणी के ऊपर जो कुछ भी लुटा दें उसमें मेरा भी हिस्सा लग सकता था; मैं कुछ का कुछ हो सकता था। मैं सदैव चाहता रहा कि मिस रोहिणी को संसार की सारी विभूतियाँ मिल जायँ, परन्तु उस समय न जाने क्यों मेरा हृदय जल उठा, आँखों में आग इकट्ठी होने लगी। मेरा अन्तर राजा के प्रति घृणा से चिल्ला उठा।

मेरी मजबूरियों ने उस समय मेरी लघुता दिखला दी; मैं अपने को खटमल मच्छर से भी हीन, विवश समझने लगा। मैं कर ही क्या सकता था!

मैंने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हें रोक तो सकता नहीं लेकिन किस तरह कह दूँ कि जाओ?' और इतने में राजा 'ब्रीचेज' की जेबों में हाथ डाले, आँखों पर झुकी फैल्ट-हैट के नीचे से सिगरेट का धुआँ उड़ाता हुआ मोटर से उतर कर पास आया और मिस रोहिणी के चेहरे पर आँख गड़ा कर भारी आवाज से पूछा, 'तुम इस समय कहाँ जा रही हो?'

मिस रोहिणी ने काँपते ओठों से उत्तर दिया, 'अपने घर'।

राजा बोला, 'चलो, मेरे साथ चलो, मैं पहुँचा दूँ।'

मिस रोहिणी की उँगलियाँ उस समय एक दूसरों के नाखून उखाड़ डालना चाहती थीं। उसने मेरी ओर फिर एक बार सिर उठा कर देखा। मैं न राजा से बोला, न उसकी ओर देखा, न उसको झुक कर मुजरा ही किया। कुछ मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए मैंने कहा, 'जाओ'।

राजा ने मिस रोहिणी से पूछा, 'यह कौन है?' उसने उत्तर दिया, 'मेरे साथ पढ़ते हैं, मेरे मित्र।'

राजा तेवर बदल कर बोले, 'तुम्हारे साथ पढ़ता है? तुम्हारा मित्र? और जानता नहीं, मैं कौन हूँ; मुजरा तक नहीं किया? बदतमीज कहीं का...' और यह कहते-कहते मेरे गाल पर धड़ से एक तमाचा जड़ दिया।

उस समय मैं इतना भारी हो रहा था कि अचानक भरपूर हाथ से मारा तमाचा खा कर भी लुढ़क न सका। राजा ने मिस रोहिणी का हाथ पकड़ा और मोटर की ओर घसीट ले गया। मिस रोहिणी ने मेरी ओर घूम कर देखा। उसकी आँखों में

आँसू थे; मेरे ओठों पर मुस्कराहट थी। राजा बोले, 'चलो चलो, संकोच न करो; तुम्हें तुम्हारे घर पर छोड़ दूँ।'

मिस रोहिणी का मकान था पूरब की ओर, राजा उसे पहुँचाने ले गया पश्चिम। मैं खड़ा देखता रहा—मोटर वह गई, उतनी दूर पहुँची, और वह ग़ायब हो गई। मैं भी धीरे-धीरे, गर्दन लटकाये, चल दिया।

मिस रोहिणी के मकान के पास, मोड़ पर एक पान वाले की दूकान थी। उस दूकान के सामने खड़े हो कर एक बार महल की ओर देखा, फिर दूकान में लगे बड़े भारी आइने में अपनी सूरत देखी और एक बार 'हुँह' कह कर हँस पड़ा। सच बात, उस समय मेरा अन्तर हँसा था; छोटा-सा कटु हास्य, जिसका आनन्द उसीने लूटा। और फिर ऐसी हँसी दुनिया में कितनों ने हँसी है, कितनों ने समझी है? कुछ बातें अपने आप ही कर लेने और समझ लेने की होती हैं।

बत्तियाँ जल चुकी थीं; दूधिया रोशनी सड़क पर फैल रही थी।

× × ×

जब तीन दिन तक मिस रोहिणी गोखले अपने घर न पहुँचीं, तो उनके पिता ने मेरा गला दबाना शुरू किया, थानेदार थे न? मैं इस असमंजस में कि कहूँ या न कहूँ। परन्तु उस ज़माने में हिन्दी के कुछ बदनाम अख़बार राजाओं और रियासतों के पीछे बुरी तरह हाथ धो कर पड़े हुए थे और उनके संवाददाता भूतों की तरह से न जाने कहाँ से और कैसे गुप्त से गुप्त ख़बरें ले उड़ते थे। उक्त घटना के तीसरे दिन ही एक अख़बार ने लिख मारा कि 'अमुक थानेदार की लड़की घर से ला पता है और अनुमान किया जाता है इसमें 'राजा' का बड़ा भारी हाथ है।

कहा जाता है कि नगर से सात मील दूर पहाड़ कोठी पर उसे राजा के साथ देखा गया।' खबर बिजली की तरह दूर-दूर तक फैल गई।

तीन दिन बाद मिस रोहिणी गोखले लौट कर आ गईं और जब वह क्लास में घुसीं, तो उनकी आँखें इतनी झुकी हुई थीं कि उठने में शायद वरसों लगते। मेरे पास से निकल गईं, और बिना मुझे देखे। चुहलबाजों का मुँह किसने रोका है, वह अपना काम बराबर करते रहते। घण्टे आध घण्टे बाद किसी कोने से अवसर पाकर शब्दों की बौछार शुरू हो जाती। मिस रोहिणी के मुँह पर अब वह मुस्कराहट नहीं थी। दर्जे के अन्दर, दर्जे के बाहर वह कबूतरी की तरह नहीं फड़फड़ातीं, दो सीढ़ियाँ एक साथ नहीं फलाँगतीं। गर्दन झुकाये हुए दब कर आना, दब कर बैठना उठना, और दब कर चले जाना। उसके चेहरे पर गम्भीरता थी, ग्लानि थी; उसकी ठुड्डी सीने में गड़ी रहती; जैसे उसका अन्तःकरण चौबीसों घण्टे उससे कभी समाप्त न होने वाली कोई बात कह रहा हो और वह सुन रही हो, सुन रही हो; सुनना पड़ रहा हो। दिन बीतते गये।

धीरे-धीरे ऐसा होने लगा, कि तीसरे-चौथे एक दो घोड़ों वाली बग्घी करीब बारह बजे कालेज के फाटक के बाहर आकर रुकती। एक अरदली दर्जे के दरवाजे पर दिखता। उसको देखते ही मिस रोहिणी चुपचाप उठ कर उसके साथ चली जातीं। चार बजे के पहले ही जब कालेज बन्द होने का समय आता था वह बग्घी फिर उन्हें कालेज पहुँचा जाती।

कुछ दिनों बाद मिस रोहिणी फिर उसी प्रकार गर्दन उठा कर चलने लगीं, मुस्कराने लगीं, हँसने लगीं। अभिनय अवश्य था परन्तु आँखों से झलकने वाले अन्तःकरण की बातों को जबान

से निकलने वाले शब्द कहाँ तक सम्हालते ? मुझसे वह न बोलतीं, मैं उसकी ओर कभी देखता तो मुँह फेर लेतीं। मैंने भी तो अपनी ओर से फिर उससे बात करने का प्रयत्न न किया! मेरा कोई दोष भी तो नहीं था; मैंने कभी कुछ कहा भी तो नहीं! फिर मिस रोहिणी मुझसे क्यों दूर-दूर रहतीं? क्या हिम्मत नहीं थी बात करने की, आँख मिलाने की? शायद—हाँ। और उसके पिता? साठ रुपये माहवार पाने वाले थानेदार, मामूली से थानेदार, अब सरकिल इन्सपेक्टर हो गये थे। डेढ़ सौ माहवार पाने लगे थे।

दिन बीतते चले गये। फरवरी के महीने में प्रैक्टिकल इम्तहान आरम्भ हुए। केमेस्ट्री के इम्तहान के दिन दर्जे के विद्यार्थियों की सीटें रजिस्टर में लिखे नामों के अनुसार क्रमवार रखी गईं। इस हिसाब से मिस रोहिणी की सीट मेरे बाद ही पड़ी थी और परीक्षक के प्रबन्ध ने मजबूर कर दिया था कि हम दोनों चार घण्टे बिल्कुल पास खड़े-खड़े काम (Experiment) करते रहें। मेज पर रखी अल्मारी के सबसे ऊपरी खाने में 'मिथिल आरेंज' की शीशी रखी थी, जहाँ तक मिस रोहिणी का हाथ नहीं पहुँचता था। जब एक-दो बार उसे उठाने की कोशिश हो चुकी, तो उनकी जबान खुली। महीनों बाद वह उस दिन मुझसे बोलीं, 'वह शीशी तो उतार दीजिए।'

मुझे हँसी आ गई और इतने जोर से मैं हँस पड़ा कि वह सकुचा गईं, डर गईं। प्रोफेसर साहब झपट कर आये, हक्का-बक्का से मुझे और मिस रोहिणी को एक झपकी में दो-तीन बार देख कर पूछा, 'क्या बात है ?' मैंने उत्तर दिया, 'निजी मामला है, आप फिक्र न कीजिए'। वह बेचारे अक्लमन्द थे, सारे प्रश्न और उत्तर उसी पर समाप्त करके चले गये।

फिर धीरे-धीरे मेरे दिमाग पर हरारत चढ़ने लगी। अपने को बहुत रोका, पर दिल ने न माना। धीमे स्वर में, दबे स्वर से कहने लगा, 'देखो रोहिणी, मेरा तुम्हारे ऊपर कुछ अधिकार तो है नहीं। कभी तुमसे कुछ कहा या कहूँ तो केवल एक ग़रीब मित्र के नाते। जो मनुष्य शासक की निगाहों से चाहे जितना गिर जाय और जनता की निगाहों में चढ़ा रहे, तो उसको भले आर्थिक लाभ अधिक न हो, उसका बड़ा मान रहता है। एक अकेले शासक के मुक़ाबले जनता के हज़ारों, लाखों हाथ सदैव उसके सिर पर रहते हैं, परन्तु शासक की दृष्टि में चढ़ कर जनता की दृष्टि में गिर जाने वाले का कोई मूल्य नहीं, उसका कहीं ठिकाना नहीं। जहाँ वह जाता है, लोग घृणा से मुँह फेर लेते हैं या मुँह में रूमाल लगा-लगा कर हँसते हैं। जानती हो आज तुम्हारी क्या इज़्ज़त है? क्या इज़्ज़त की परिभाषा तुम्हारे निकट अब इतनी रह गई है कि शहर के तम्बोली और ताँगे वालों की ज़बान से अपने को राजा की रखैल सुन कर सिर उठा कर चल सको, अपनी बड़ी इज़्ज़त-आबरू समझो और यदि तुम्हें मेरी...मेरी...'

मिस रोहिणी के हाथ से शीशे का फ़्लास्क गिर कर चकनाचूर हो गया। मेरे शब्दों में बड़ी गर्मी आ गई थी। मेरी ज़बान एक दम बन्द हो गई। मिस रोहिणी की आँखें लाल हो रही थीं, चेहरा लाल हो रहा था, ओंठ काँप रहे थे, हाथ काँप रहे थे। नौकर आ कर दूसरी फ़्लास्क रख गया।

थोड़ी देर बाद—जब मैं अपने को शान्त कर चुका था और वह अपने को सम्हाल चुकी थी, उन्होंने बीकर में बीरट से बूँदें टपकाते हुए नपे-तुले शब्दों में कहना आरम्भ किया, 'मैं जानती हूँ कि इस समय मैं दुनिया की निगाहों में गिरी हुई हूँ,

और उससे अधिक आपकी निगाहों में। पर सबसे अधिक स्वयं अपनी ही निगाहों में मैं गिर गई हूँ। पर आप ही बतलाइये मैं क्या करूँ, मैं क्या कर सकती हूँ? मैं नहीं चाहती कि मैं पतिता बनूँ, पर मेरे चाहने न चाहने की कोई बात ही नहीं। मेरा कोई वश नहीं। उन पशुओं से मैं मजबूर हूँ।' मैंने सिर हिलाते हुए कहा, 'ज़हर तो खा सकती हो'। उत्तर मिला, 'जान देना उतना आसान नहीं है जितना कह देना। जीवन का बड़ा मोह होता है।'

'और तुम्हारे पिता? क्या वह यह सब पसन्द करते हैं?' मैं अनुभवहीन बालकों की तरह पूछ बैठा।

मिस रोहिणी एक सूखी हँसी हँस कर बोलीं, "पिता? वह सब-इन्सपेक्टर से सरकिल इन्सपेक्टर हो गये हैं। दो माह में डिप्टी सुपरिण्टेण्डेन्ट हो जायेंगे। मुँह में हराम लगा है न? मैं एक दिन उनके आगे रोई तो उल्टे कहने लगे—'देख मूर्खता की बातें न कर। वह राजा हैं, उनका तेरे, मेरे सबके ऊपर अधिकार है। यह तो तेरे भाग्य हैं कि राजा की कृपादृष्टि तुझ पर है।"

मैंने अपना सिर थाम लिया। मिस रोहिणी की किस बात पर विश्वास करूँ, किस पर नहीं। सब सच मान लूँ, या सारी बातें झूठ समझूँ—जबर्दस्ती की, बड़ी खूबसूरती के साथ गढ़ी हुई सफाई। मैं इसीमें उलझता-सुलझता रहा। उस दिन फिर अधिक बातें न हुई और न कुछ परिणाम निकल सका। दूसरे दिन प्रोफेसर साहब के एक मुँहलगे विद्यार्थी ने मुझसे चुपचाप परिणाम अवश्य बतला दिया था—प्रैक्टिकल इम्तहान में दोनों फेल। मिस रोहिणी गोखले को मिला कहावती अण्डा, और मुझे तीन सही एक बटा दो। तसल्ली के लिये बहुत काफी था।

परीक्षा समाप्त होते ही भाग्य ने, या अभाग्य ने मुझे भी

राजा के दर्शन कराये, और ठाठ के साथ। राजा का ख्याल था, मिस रोहिणी का गायब होना, और उनका मिस रोहिणी से सम्बन्ध होना—इसकी खबर अखबार वालों को मैंने ही दी थी। मुझे बिना किसी से कहे-सुने, चुपचाप, चौबीस घण्टे के अन्दर राज्य छोड़ देने की आज्ञा हुई। सज़ा बहुत कम थी, केवल मिस रोहिणी गोखले का मित्र होने के ख्याल से, नहीं तो मैं उम्र भर जेल में सड़ा करता और कोई पुरसाँहाल न मिलता मेरा, इस दुनिया में—यह राजा का कहना था।

वर्ष भर बाद एक मित्र से मालूम हुआ कि मिस रोहिणी का चेहरा सूख गया है, स्याह दाग़ पड़ गये हैं. न जाने क्या-क्या बीमारियाँ हो गई हैं। दौरे इस क़दर आते हैं कि बाज़ार में मोटर से उतर कर दो क़दम चल नहीं पाती हैं, ग़श खा कर गिर पड़ती हैं, और अपने बाल नोचने लगती हैं। बम्बई में पाँच महीने बड़े-से-बड़े डाक्टरों ने उसका इलाज किया, पर कोई लाभ न दिखा।

और मिस रोहिणी गोखले के पिता? उन्हीं मित्र ने बतलाया—वह अब होम मिनिस्टर हो गये हैं, ढाई हज़ार रुपया महीना तनख्वाह पाते हैं। ऊँचे-ऊँचे सदाबहार के पेड़ों से घिरे आलीशान बँगले में रहते हैं; और सुबह तड़के ही उनके बँगले के बाहर, सड़क पर मोटर, बग्घियाँ और ताँगों के ढेर बतलाते हैं कि कितने लोग उनको मुजरा करने आते हैं, मिस रोहिणी गोखले के पिता को!

४

पूरा नाम था निरुपमा देवी, प्यार का नाम था नीरा। नीरा को मैं तब से जानता हूँ जब वह नंगी-नंगी अपने मकान के

दरवाज़े खेला करती थी। उसके पिता थे डाक्टर रघुनन्दनलाल। डाक्टर तो वह बराये नाम होमियोपैथी की दो-चार शीशियाँ रख कर हो गये थे, वैसे वह एक सरकारी दफ़्तर में मामूली से क्लर्क थे। डाक्टर साहब के शब्दों में नीरा की माँ बिल्कुल निकम्मी थीं। होंगी, पर उन्होंने डाक्टर साहब का नाम चलाने के लिये तीन-तीन होनहार लड़कियाँ तो पैदा कर दी थीं! लड़का कोई न था। लड़के की आवश्यकता ही क्या थी! लोगों का कहना है, बाप का नाम बेटा लायक़ हो कर चलाता है, बेटी नालायक हो कर। इस कहावत के अनुसार यदि लड़कियों ने किसी प्रकार अपने बाप के नाम में चार चाँद लगाये, तो क्या बुरा किया। परन्तु—

डाक्टर साहब जब जिन्दा थे, उनका अधिकांश समय घर में किसी न किसी बात पर खीखियाते ही बीतता था। कभी लड़कियों पर, कभी लड़कियों की माँ पर। जिस समय से मैं बात उठाने जा रहा हूँ, उस समय नीरा की आयु होगी बारह वर्ष की, उसकी छोटी बहिन मीना शायद दस वर्ष की होगी और तीसरी बहिन नन्ही चार वर्ष की। लड़कियाँ और उनकी माँ एक दूसरे से इतनी सठी-गठी रहती थीं कि क्या मजाल जो डाक्टर साहब को उनकी अनुपस्थिति में होने वाली किसी भी बात की हवा तक लग सके।

नीरा और मीना को नाचने-गाने से बड़ा शौक़ था। क्यों न हो, उनकी माँ जब उनसे भी बढ़ कर शौकीन हों? दिन भर डाक्टर साहब तो रहते दफ़्तर में, और घर पर हारमोनियम बजा करती, तबला ठनकता रहता, घुँघरू छमछमाते रहते। मुहल्ले का हर छोकरा नीरा और मीना का भाई बन गया था, और उनकी माँ का भतीजा। महफ़िल जमी रहती। होरीलाल

विद्यार्थी कक्षा ६ हारमोनियम बजाते, अमोलकचन्द विद्यार्थी दरजा सात तबला ठोंकते और नवें दरजे में ही तीन-तीन गोते लगाने वाले विद्यार्थी 'रामनिवास झूम-झूम कर गाना सिखाते 'ठाढ़ी प्रेम नदी के तीरे।' शाम को डाक्टर साहब जो दफ़्तर से वापस आते तो नीरा तरकारी काटती हुई मिलती, मीना दाल बीनती हुई और इनकी माँ चूल्हा सुलगाती हुई।

लेकिन यह दोपहर की महफ़िल कब तक छिपी रहती? पड़ोसियों ने डाक्टर साहब के कान भरना शुरू किया और जब डाक्टर साहब ने कुछ सख्ती की तो उनके कुटुम्ब ने उनका बहिष्कार करने की ठानी। सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, और जितने भी अहिंसावादी तरीक़े हो सकते हैं, इस्तेमाल में लाये जाने लगे। माँ का हाथ तो लड़कियों की पीठ पर था ही। डाक्टर साहब जब दस बार पानी माँगते तब उन्हें पानी मिलता। उनको लाख भूख लगी हो, आँतें करामउल्ला हो रही हों, लेकिन नीरा, मीना, या उनकी माँ चूल्हे में हाथ थोड़े ही घुसेड़ देंगी, चूल्हा जलते-जलते जलेगा। जब डाक्टर साहब उन बच्चियों के दुश्शील उत्तरों से जल-भुन कर छड़ी ले कर झपटते, तो नीरा की माँ चीख़ने लगतीं, 'मार डालो लड़कियों को! आज कोई लड़का होता तो तुम्हारी इस नादिरशाही को लात झाड़ कर घर से बाहर निकल जाता। लड़कियाँ हैं, चार दिन की हैं; चाहे हड्डी-पसली तोड़ो, चाहे चटनी बनाओ,' और डाक्टर साहब झल्ला कर रह जाते। परिवार के मालिक की केवल इतनी सत्ता रह गई थी कि गधे की तरह रुपया ढो कर घर में ला कर डाल दे, और जो टुकड़े उसके आगे फेंक दिये जायँ वह खा ले। अधिक से अधिक दूर से बूढ़े बन्दर की तरह घुड़की बता लिया करे।

दो वर्ष बीत गये। डाक्टर साहब बीमार पड़े, और थोड़े दिनों के लिये भी नहीं। करीब आठ माह बीमार रहे। कुछ दिनों तक तो ऐसे चला कि दो-तीन दिन बीमार रहे, फिर कुछ स्वस्थ हुए, तो दो-चार दिन दफ़्तर हो आये और फिर दो-तीन दिन के लिये पड़ रहे। जब उन्हें बीमार हो कर घर पर पड़े रहना पड़ता, तो नीरा और उनकी माँ की नाकें सिकुड़ जातीं और केवल यह कह कर अपने उद्गार प्रगट कर लेतीं, 'इनकी बीमारी तो और जान की आफ़त बन गई।' वास्तव में जान की आफ़त डाक्टर साहब की बीमारी न थी बल्कि बीमारी के कारण उनका घर ही में चौबीसों घण्टे पड़ा रहना था। सुबह दस बजे से शाम को चार बजे तक उनके बाहर होने से इन लोगों को जो थोड़ी-बहुत आज़ादी मिल जाती थी, वह जाती रही। और आजकल आज़ादी का रोना सबसे बड़ा रोना है न घर-घर में ?

मेरे मकान से दो मकान छोड़ कर डाक्टर साहब का मकान था। दूर की रिश्तेदारी भी थी। मुहल्लेदार होने के नाते, और चूँकि बचपन से मैं डाक्टर साहब के यहाँ आया-जाया करता था, मैं कभी-कभी डाक्टर साहब को देखने चला जाता और जब उनकी हालत अधिक खराब होती तो दो-चार घण्टे तक उनके पास बैठा रहता। उनको चारपाई-लगे तीन महीने हो गये थे। वह चिल्लाते, "पानी—अरे मीना, पानी दो। मीना! मीना बेटा! अरे कहाँ गई? निकल गई। घूम रही होगी कहीं। अरे पानी……अभी तक नहीं लाई नीरा! ओ नीरा की माँ!" मैं बैठा सुना करता डाक्टर साहब का पानी के लिये चीखना, और अक्सर देखता—उनके सिरहाने पाँच क़दम की दूरी पर अलमारी में रखे आइने में नीरा अपना मुख देख-देख कर स्नो रगड़ती, बिन्दी लगाती और जब डाक्टर साहब अधिक चिल्ल-पों मचाते,

तो मेरी ओर देख कर, मुँह विचका कर मुस्करा देती। खून खौल उठता मेरा, मगर......मैं उठ कर डाक्टर साहब को पानी पिला देता। उनकी दवा ला दिया करता। और कोई बीमार की बातें सुनने वाला, उसको सान्त्वना देने वाला नहीं है, इसलिये अपने काम का हर्ज करके भी घण्टों उनके पास बैठा रहता, उनकी बातें सुना करता, बीमार की बातें न सुनना, उसको खीझ कर उत्तर देना उसके प्रति, मनुष्यता के प्रति अन्याय होता है। और फिर ऐसी बीमारी में जो उसके लिये अन्तिम होने जा रही हो! डाक्टर साहब कहा करते, "रण्डी बनेंगी रण्डी। देख लेना बेटा, ये सब रण्डियाँ बन जायेंगी। मेरा नाम खूब ऊँचा करेंगी। यह सब तो मनाती हैं कि मैं मर जाऊँ और इनको पूरी आजादी मिल जाय। मैं तो खुद मनाता हूँ कि मैं मर जाऊँ, मुझे अब कोई पूछने वाला नहीं।" ऊपर से तो "आप भी क्या कहते हैं डाक्टर साहब" कह कर मैं हँसी में उनकी बात उड़ाने का प्रयत्न करता, किन्तु मन में मैं भी सोचा करता कि लड़कियों को जितने शौक़ लगे हैं वह सब महफ़िली, और महफिली शौक़ पुरुषों को देखते स्त्रियों को बहुत शीघ्र उड़ा देते हैं।

कह नहीं सकता कि घरों के कोनों में घुस कर औरतों का और नाई की दूकान पर बैठ कर मरदों का फुसफुसाना कहाँ तक ठीक था कि "अजी, डाक्टर रघुनन्दनलाल को उनकी बीबी ने जहर खिला कर मार डाला, देखा नहीं, बारह घण्टे में चेहरा कितना स्याह पड़ गया था! कहीं ऐसा भी होता है कि मरते समय बारह घण्टे पहले का गोरा-चिट्टा आदमी एकदम काला पड़ जाय!" जो भी हो, पर चार-पाँच महीने और चारपाई तोड़ कर डाक्टर साहब हमेशा के लिये ठण्ढे हो गये।

जिस दिन वह मरे, उसके दूसरे ही दिन जब मैं नीरा की

माँ के पास लोकाचारवश सहानुभूति प्रगट करने पहुँचा, तो देखा, कमरे के एक कोने में नीरा की माँ एक अठारह-बीस वर्ष के खूबसूरत लौंडे के पास बैठी हुई मुस्करा-मुस्करा कर बातें कर रही थीं। मैंने सुना, वह कह रही थीं, "अब भैया, बतलाओ क्या हो?" और उसी दिन शाम को मीना मेरे यहाँ आती है, फ़ोलडिंग हारमोनियम पर बैठ कर सा-रे-म-प-ध-सं ऽ ऽ ऽ ऽ की एक तान छोड़ कर पूछती है "दादा आप वह कौन-सा गीत गाते हैं,—भँवरे कलियों में नहिं फँसना?"

× × ×

सबके सामने अब प्रश्न यह था कि उन तीनों लड़कियों व उनकी माँ का क्या होगा? डाक्टर साहब जब मरे, तो केवल एक मकान छोड़ गये। तनख्वाह में से कुछ बचता ही न था जो बैंक में थोड़ी बहुत जमा-जथा निकल आये। आमदनी की कोई सूरत न थी। गुजर कैसे हो? डाक्टर साहब के बाप जिन्दा थे, दो-दो भाई जिन्दा थे। सब अलग रहते थे इन लोगों से। ससुर और देवरों के रहते हुए नीरा की माँ को कोई कठिनाई न होनी चाहिये। कम-से-कम उन लोगों की आर्थिक स्थिति ऐसी गिरी न थी जो इन लड़कियों का भरण-पोषण न कर सकते हों; और न उन लोगों में ऊपरी बात-व्यवहार से कोई इतना नीच ही दिखता था कि वह लापरवाही से "हुँह" कह कर सोचे कि भाई मर गये, अब भाई के परिवार का—उनकी स्त्री और तीन-तीन लड़कियों का—उत्तरदायित्व कौन ले; खिलाने-पिलाने का खर्च, शादी ब्याह का खर्च।

यह बात नहीं थी। इस विचार के लिए कोई स्थान न था। डाक्टर साहब का मकान इतना लम्बा-चौड़ा था कि गिरी से

गिरी हालत पर भी उसके दस-बारह हज़ार रुपये दाम सीधे हो सकते थे, या उसे कम से कम ३०) माहवार किराये पर उठाया जा सकता था। कुछ उससे, कुछ सगे-सम्बन्धियों की सहायता से सब निवट सकता था। परन्तु तमाशा यह कि एक ओर तो नीरा, मीना और इनकी माँ हर एक के घर में यह कहती फिरतीं कि 'कहने को तो देवर हैं, ससुर हैं, चाचा, बाबा सब हैं लेकिन कोई भी मुसीबत में साथ देने वाला नहीं; सब लूट लेना चाहते हैं। किसी से भी नहीं हो सकता कि चार दिन अपने घर में रख कर खिला दें।' और दूसरी ओर डाक्टर साहब के भाई कहते फिरते "साहब, हम लोग ऐसे गये गुज़रे नहीं हैं कि भाई के मर जाने पर उनकी सन्तान को गली-गली ठोकरें खाते हुए देखें। हम तो उम्र भर इन लोगों को अपने यहाँ रखने और परवरिश करने पर तैयार हैं। अरे भाई, रूखी-सूखी जो कुछ भी होगी पहले भाई की सन्तान को खिला कर तब हम खायेंगे, पर हम उन्हें अपने यहाँ रख कर यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि दिन-रात तबला ठनकता रहे, घुँघरू छमछमाते रहें, महफ़िल जमी रहे और ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे घर में भरे रहें। उन्हें यह सब बन्द करना होगा और भले आदमियों की तरह रहना पड़ेगा।" कौन ठीक है, कौन ग़लत—इसका निर्णय करने के लिये जब एक दिन मुहल्ले वालों ने एक दूसरे का सामना करा के यह बेकार का एक दूसरे के विरुद्ध प्रपञ्च बन्द कर देना चाहा, तो नीरा की माँ बड़े रोष के साथ बोली, "तो यह नहीं हो सकता कि इनके घर में रहूँगी इसलिये अपने जितने मुलाक़ाती और जान-पहचान के हैं सबसे नाता तोड़ दूँ। हमारे जो आने वाले हैं वह तो आयेंगे, चाहे यह लड़कियों की परवरिश करें चाहे न करें।" आख़िर इन लोगों ने मकान किराये

पर उठा दिया और अपने एक रिश्तेदार के यहाँ कुछ दिन रहने के लिए जौनपुर चली गईं।

× × ×

हड्डियों को कँपाने वाला माह-पूस का जाड़ा पड़ रहा था। उन दिनों मेरे घर के अन्य लोग कानपुर गये हुए थे, मैं ही अकेला रह गया था। एक मित्र के यहाँ से एक रात को करीब ग्यारह बजे जो मैं घर वापस लौटा, तो गली के मोड़ पर देखा—एक स्त्री दो लड़कियों के साथ खड़ी है और एक चार-पाँच वर्ष की बच्ची गली में दीवाल के पास पड़ी रो रही है। सुनसान रात में इस तरह इन लोगों को देख कर कौतूहल हुआ। पास पहुँच कर देखा—नीरा, मीना और उनकी माँ थीं। नन्हीं पड़ी हुई रो रही थी, सोने के लिए। मैंने आश्चर्य से पूछा, "यहाँ कैसे ? और इस समय ?" तो नीरा की माँ बोलीं, "क्या करें। कहीं ठहरने को जगह नहीं मिल सकी।"

"क्यों ?"

"क्या बतायें।"

"तुम्हारा मकान तो है। वहाँ नहीं ठहरीं ?"

"उसमें किरायेदार रहते हैं; उन्होंने नहीं ठहरने दिया।"

"तुम आईं कब ?"

"आज सुबह।"

"और तुम्हारा सामान ?"

"चोरी चला गया; बिस्तर था सो एक जगह छोड़ आई हूँ।"

"हूँ" मैंने सोचा। "अरे तो मेरे घर चली आतीं, इसमें संकोच की क्या बात। सोने भर की तो जगह है ही।"

"ध्यान तो आया था, फिर सोचा तुम्हारे घर के लोग कुछ कहें न ?"

"नहीं, इसमें कहने की क्या बात है। क्या कोई तुम्हें जानता नहीं है? फिर आजकल तो कोई है भी नहीं। चलो आओ।"

इन सबको लेकर मैं घर पहुँचा। नीचे के कमरों में चाची ताला बन्द करके चली गई थीं। ऊपर कोठे पर केवल मेरा कमरा खुला था जिसमें मेरा डेरा-डम्बर रहता था। किसी ने खाना न खाया था। मीना और नन्ही भूख-भूख चिल्लाने लगीं। रसोई खोलकर आटा निकाला, मैंने चूल्हा सुलगाया, मीना ने आटा गूँथा, नीरा ने पूड़ियाँ निकालीं और सबने अचार के साथ पूड़ियाँ खाकर पानी पिया। तरकारी घर में थी नहीं।

कोठे पर मेरे कमरे में केवल एक पलंग था। बिस्तर के नाम पर चादर के नीचे दो बड़े-बड़े गद्दे बिछे हुए थे, और ऊपर एक लिहाफ़ व एक कम्मल। एक गद्दा निकालकर फर्श पर बिछा दिया, लिहाफ़ दे दिया और कहा कि "किसी तरह उसमें सब लोग घुसकर रात काट दो, कल फिर कुछ इन्तज़ाम किया जायगा।" मैं कम्मल से लिपटकर पलंग पर पड़ रहा। उस समय घड़ी में ठीक बारह बज रहे थे। लम्प की बत्ती धीमी कर दी गई।

तीनों लड़कियाँ लिहाफ़ में घुसी हुई थीं। मीना और नन्ही सो गई थीं। नीरा करवटें बदल रही थी। नीरा की माँ पलंग के पास बैठी हुई अपनी गाथा सुना रही थीं। यहाँ से जब वह गईं, तो मकान किराये पर उठा गईं। दो पीपा घी, एक बोरी गेहूँ, पन्द्रह सेर चावल अपने एक रिश्तेदार के यहाँ रख गईं। वह सारा माल हजम कर गये।

जौनपुर गईं, वहाँ दस दिन रहीं। उनके मौसिया बोले, वह उनको अपने पास नहीं रख सकते। यदि वह रहना चाहती हैं, तो चारों प्राणियों का खर्च कम-से-कम सौ रुपया माहवार दें।

उनके यहाँ बक्स से नीरा की छ-सात बहुमूल्य साड़ियाँ गायब कर ली गईं। कमर की जंजीर और हाथ की पटरियाँ चोरी चली गईं। जौनपुर से फिर बनारस अपने बहनोई के यहाँ गईं।

वहाँ लगभग माह भर रहीं। बहनोई साहब की बुरी नियत मालूम होती थी नीरा पर! क्योंकि एक बार उन्होंने नीरा की माँ के सामने ही उसका हाथ पकड़ लिया। खूब लड़ाई हुई और वह वहाँ से सीधे अपने घर को वापस होने के लिये चल पड़ीं। रेल में जब वह सब सो रही थीं, कोई उनके दो बड़े-बड़े बक्स और एक सूटकेस खिसका ले गया।

इन लोगों के साथ किसने क्या किया, क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, यह तो भगवान् ही जानें यदि वह कहीं हों और उनमें कुछ जानने-समझने की सामर्थ्य हो, परन्तु यह निश्चय था कि इन लोगों की किसी के साथ भी गुजर न हो सकी। कारण स्पष्ट थे। नीरा की माँ की बातें सुनते-सुनते मैं ऊब गया था। नींद के झोंके आ रहे थे। उनकी बातें समाप्त होती दिखाई न देती थीं।

एक बज रहा था।

नीरा की माँ मेरे हाथ सहला रही थीं और बड़े प्यार से बातें करने लगी थीं। उन्होंने पूछा, "तुमने अभी तक ब्याह क्यों नहीं किया?" मैंने दो-चार बार उत्तर में 'यूँ ही यूँ ही' कहकर टालना चाहा तो उनके एक प्रश्न ने मुझे बड़े असमंजस में डाल दिया। बोली, "हमने सुना है तुममें कोई बीमारी है, खराबी है। क्या यह ठीक है?" जिन्ना के हिन्दू हो जाने की खबर से मैं उतना न चौंकता जितना नीरा की माँ के इस प्रश्न से। जब मैंने इन्कार किया तो मेरे हाथ को अपनी ओर खींचती हुई बोलीं, "तो हम किसीसे कहने थोड़े ही जाते हैं? तुम्हें हमारे सिर की क़सम सच-सच बता दो।"

वह फ़र्श से उठकर पलंग की पट्टी पर बैठ गईं और पैर दबाने लगीं। मैं बेचैन होकर पैर छुड़ाने का प्रयत्न करता हुआ बोला, "यह क्या कर रही हो? रहने दो, अब सो जाओ, रात बहुत बीत गई।" लेकिन उनकी रात शायद उस समय चढ़ रही थी। मेरा हृदय रह-रहकर इस तरह धड़क उठता कि पसलियों के नीचे हल्का-हल्का दर्द मालूम होने लगा। उन्होंने पैर नहीं छोड़े; और फिर मैंने भी निश्चय कर लिया कि अब चाहे जो कुछ हो, नीरा की माँ जो नाटक भी दिखायें, पूरा ही देखकर रहूँगा। मेरे विवाह न करने के उन्होंने कारण पूछे, मुझमें कोई रोग तो नहीं है? हजार तरीक़ों से जानना चाहा। किसी लड़की से मेरा सम्बन्ध तो नहीं है, मेरा कितनी लड़कियों से सम्बन्ध रहा, भला मुझसे कोई बची होगी? मुझे पहले-पहल अपनी जवानी का एहसास कब हुआ, उस समय मेरे मन में क्या-क्या ख़याल उठे? आज-कल काम कैसे चलता है?—आदि वह तमाम बातें खुले शब्दों में नीरा की माँ ने कीं जो साठ-सत्तर वर्ष के बूढ़े की बुझी जवानी में भी आग लगा सकती थीं। मैं तो ख़ैर उस समय ख़ुद जलती जवानी के भाड़ में भुन रहा था।

अकस्मात् प्रश्न हुआ, "नीरा से ब्याह करोगे?" मैं चुप। नीरा की माँ ने कई बार पूछा—हर्ज क्या है; पूछा—क्या नीरा अच्छी नहीं लगती; सफ़ाई दी—नीरा तो बहुत चाहती है कि उसका विवाह मुझसे हो जाय; मजबूरी दिखाई—उनके पास पैसा नहीं है, परन्तु मुझे पैसे की परवाह नहीं, गरीबों की सहायता को सदैव तैयार रहता हूँ। पर मैं चुप। उत्तर देता भी तो क्या? जब कई बार पूछा, तो यही कह दिया, "विवाह करने की अभी मेरी इच्छा ही नहीं है। यह सच है मुझे पैसा

नहीं चाहिये, यह सच है कि मुझे सिर्फ अच्छी लड़की चाहिये। और यह भी सच है कि नीरा कोई बुरी नहीं, उसमें कोई भी बुराई नहीं है। परन्तु मेरा अभी विवाह करने का इरादा ही नहीं, कम से कम तीन-चार वर्ष तक।" और यदि नीरा मुझसे ही विवाह करना चाहती है, तो इससे उसके हृदय को ठेस न लगेगी? तो फिर? नीरा की माँ ने मेरी भावुकता की दुहाई दी। परन्तु···परन्तु...एकदम उन्होंने मुस्कराते हुए कह डाला, "तुम तो चाहते होगे बिना ब्याह किये नीरा अगर मिल जाय तो बड़ा अच्छा! क्यों?" और पलंग से उठकर नीचे फ़र्श पर लिहाफ़ में घुस गईं।

ढाई का घण्टा बजा।

मैं कम्मल में लिपटा हुआ यह तमाम बातें सोच रहा था। नींद न जाने कहाँ भाग गई थी। फ़र्श पर, लिहाफ़ में नीरा सकर-पकर कर रही थी। कुछ बातें होती मालूम हुईं। मेरे कान सचेत होकर सुनने लगे—

"अभी तक सोई नहीं नीरा?"

"नहीं"।

"अरे सोजा बिटिया, अब ढाई बज गये।"

"नींद ही नहीं पड़ती।"

"चारपाई पर लेटने की आदत पड़ी है तुम्हारी, ज़मीन पर कभी सोई नहीं। क्या किया जाय!"

"क्या करूँ!"

टिक-टिक-टिक-टिक आधा मिनट चुपचाप गुज़रा। फिर सुनाई पड़ा—

"चारपाई पर सोओगी?"

"कहाँ है चारपाई?"

"भैया के पास सो रहो। बड़ा-सा तो पलंग है!"

"नहीं।"

"नहीं क्या? तुम्हारा जी नहीं अच्छा है। भैया, भैया!"

दो-तीन बार 'भैया' 'भैया' सुनकर मैं कम्मल के ही भीतर से बोला, "क्या?"

"सो गये थे क्या?"

"हाँ—नहीं।"

"नीरा को अपने पास लिटा लो, ज़मीन पर उसे नींद नहीं आ रही है। तबियत भी ठीक नहीं।"

"यहाँ?"

"क्यों क्या हुआ? तुम्हें तकलीफ़ न होगी। कितना चौड़ा तो पलंग है। जा नीरा, सो रह।"

"मैं नहीं जाऊँगी।"

"तो इसमें हर्ज क्या है। बड़े दादा हैं तेरे—दादा के साथ क्या कोई सोता नहीं है?"

तीन-चार बार 'जा' और 'नहीं' की तकल्लुफ़बाज़ी के बाद नीरा लिहाफ़ के अन्दर से निकली और सिसियाती हुई मेरे कम्मल में घुस आई। दिल जो ज़ोर से उछला तो जैसे गले में अटक गया। मैं धीरे से उठा और नीरा की माँ के पास लिहाफ़ के एक कोने में खिसक गया।

× × ×

डाक्टर साहब के एक पुराने मित्र ने डाक्टर साहब के इस कुटुम्ब को लावारिसों की तरह इधर-उधर फिरते देखकर अपने मकान में स्थान दिया। ऊपर के हिस्से में एक कमरा, एक कोठरी, एक दालान और एक छत दे दी। "और नीरा की माँ!" वह भले आदमी बोले, "मुझसे जो हो सका, मैंने कर दिया।

रही खाने की फ़िक्र, सो २५) रुपया माहवार तुम्हारे मकान का किराया आता है, कुछ इन्तज़ाम और कर लो और किसी तरह से गुज़र-बसर कर लो, धीरे-धीरे सब हो जायगा।" वह भले आदमी दिन भर एक प्रेस में प्रूफ़रीडरी करते। उनकी बुढ़िया, नीचे दालान में बैठी चरखा चलाया करती और जब कोई ज़ीने पर से ऊपर चढ़ता या ऊपर से नीचे उतरता तो काँपता हुआ सिर उठाकर देख लेती। वह 'बिल्कुल' से थोड़ा कम बहरी थी, अस्तु ऊपर क्या हो रहा है, इसका उसे कुछ पता न रहता।

नीरा की माँ और उनकी सुपुत्रियों के रोमांटिक जीवन में खलल डालने वाला वहाँ पर था ही कौन ? दिन भर ऊपर कमरे में नाच गाना होता, रंग जमा रहता। नई-नई सूरतें वहाँ दिखने लगीं। नये-नये रिश्तेदार पैदा होने लगे। यह नीरा के फूफा हैं। नीरा को उर्दू पढ़ाने आते हैं। यह अनन्तप्रसाद भाई साहब हैं, नीरा को 'साकेत' पढ़ाते हैं। यह कृष्णकुमार हैं, नीरा की माँ की बहन की नन्द के देवर। नीरा व मीना को गाना सिखाने आते हैं। डाक्टर साहब के इस कुनबे की आर्थिक समस्या हल हो गई दीखती थी। किसीको यदि केवल 'तफ़रीह' के नाते दूसरे-तीसरे दिन किसी जवान लड़की की सोहबत में बैठने को मिल जाय, तो गाहे-बगाहे, महीने में दो-चार बार जवान लड़की की माँ के माँगने पर दस-पाँच रुपये दे देना किसे खलता है ?

परन्तु धीरे-धीरे, आश्रय देने वाले भले आदमी को दिन भर की चकल्लस मालूम हो गई और उनकी शराफ़त, उनकी नेकी और परोपकार की भावनाओं को यह सब गवारा न हो सका। इस ख़ान्दान को एक दिन वहाँ से अपना बिस्तर गोल करना पड़ा, फिर हर दूसरे-तीसरे महीने ठिकाना बदलना तो जैसे इन लोगों का दस्तूर हो गया।

एक जवान लड़की—(सुन्दरता से कोई प्रयोजन नहीं, बस जवान होनी चाहिये)—जब उत्साह से सीना फुलाकर, अपना नाम पैदा करने के लिये, अपनी विख्याति के लिये, लज्जा, संकोच, शील—सबका परित्याग करके मैदान में कूद पड़ती है, तो जवान, अधेड़, बुड्ढी दुनिया की दुनिया उस पर फट पड़ती है। जवान लड़की !—दुनिया के लिये एक अनोखी चीज़ है न ? नवजवानों का सुनहरा स्वप्न, अधेड़ों का खिसकता हुआ मधुमास, बूढ़ों की खोई हुई निधि ! जवान लड़की !—एक विचित्र सिहरन, कम्पन है न इन दो शब्दों में ! दुनिया अन्धे को चित्रकार बना सकती है, गूँगे को संगीताचार्य बनाकर मंच पर बिठाकर ध्रुपद गवा सकती है, लँगड़े को नृत्यकला का पण्डित बना सकती है। मगर एक शर्त पर—और वह यह, कि लड़की हो, और जवान। नीरा जवान थी और वह नाम चाहती थी। उसे अच्छे-अच्छे कलाकार—उस्ताद और उस्तादजी, दोनों मिल गये जो शिष्य का हाथ पकड़कर उसको अपनी छाती से चिपका भर लें, कि कला छूत की बीमारी की तरह मानो गुरु से शिष्य में पहुँच गई और वह भी कलाकार समझा जाने लगा। नीरा ने गाना चाहा, उसे मुफ़्त में गाना सिखाने वाले मिल गये। उसने नाटक में अपने करामात दिखाने चाहे तो न जाने कहाँ से तमाम डायरेक्टर निकलकर उसकी चौखट पर ढेर हो गये। सैकड़ों से, सैकड़ों पर, ठेके होने लगे। आज वह अमुक संस्था की ओर से होने वाले नाटक में भाग ले रही हैं, कल वह सिविक गार्ड्स के खेले जाने वाले ड्रामें में उतरेंगी। वारफ़ण्ड के ड्रामे तो उसकी बदौलत ख़ूब ही चले। स्वर्गीय डाक्टर साहब के रिश्तेदार, मित्र, जान-पहचान के लोग देखते नीरा को मंच पर भालू की तरह नाचते हुए, नरगिस रण्डी के साथ ठिठोलबाज़ी करते हुए,

और शहर का नामी गुण्डा, नसीर, उसके गले में, 'हीरो' के गले में बाहें डालकर कहते हुए, "नहीं प्यारे, तुम इस तरह मेरा दिल तोड़कर नहीं जा सकते।"

दर्शकों में स्त्रियाँ मुँह में आँचल ठूँसकर हँसी रोकतीं, पुरुष सिर झुका लेते, और लुच्चे-लुंगाड़े सीटियाँ बजाते, 'हाय हाय' चिल्लाते।

नीरा की माँ उसके पीछे-पीछे उसका चेस्टर लादे चलतीं, बिल्कुल रण्डी की नायिका की तरह। और जो लोग बड़े तपाक के साथ बधाई देने के लिये नीरा की ओर लपकते, तो वह बड़ी खुश होकर, हँस-हँसकर पूछतीं, "कहिये बिटिया का पार्ट पसन्द आया ?"

नीरा अब ठाठ के साथ रहती। अच्छे-अच्छे होटलों के खानसामे उसको देखते ही सलाम करते, उसके दरवाजे मोटरें खड़ी रहतीं। काफ़ी हाउस में पार्टी है, वहाँ जा रही है। मेफ़ेयर में नाच का प्रोग्राम है, वहाँ का निमंत्रण है। आमंत्रित करने वाले खुद मोटरें भी भेज देते थे। नीरा की माँ को सब 'माँजी' 'माँजी' कहते, कोई गुणग्राहक नीरा को कहीं ले जाना चाहता तो पहले किसी जाने-समझे के द्वारा उससे परिचय भिड़ाये, उसके यहाँ फिर बेधड़क आने-जाने लगे। और जब नीरा की माँ को उसकी 'शराफ़त' पर विश्वास हो जाय (महीने में नीरा या नीरा की माँ पर पचास-साठ खर्च कर देने से यह विश्वास पैदा किया जा सकता था) तो फिर नीरा को लेकर जहाँ चाहे तफ़रीह के लिये जाय, नीरा की शान औ' शौक़त देखकर अच्छों-अच्छों को हसद होती। जब कभी इन लोगों के रवइये से नाक-भौं सिकोड़कर मुहल्ले के चार-पाँच पुराने-पुराने बूढ़े नीरा की माँ को हिन्दू संस्कृति के अनुसार लोक-लज्जा के ऊपर कुछ

व्याख्यान सुनाने का प्रयत्न करते, और स्वर्गीय डाक्टर साहब की इज्ज़त की दुहाई देते, तो वह हाथ नचा-नचाकर कहतीं "कोई भड़ुआ मेरे काम आता है? हमारे लड़का है तो, लड़की है तो—जो है सो नीरा है, घर भर के ख़र्चे का भार उसीके सिर पर है और उसीकी बदौलत रोटियाँ चलती हैं। तुम सब तो यही चाहते हो कि हम भूखों मरे भूखों!" और यदि कोई नीरा के ब्याह की चिन्ता दिखलाता तो वह झड़प उठतीं, "किसी-को उसकी फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं, वह अपना ब्याह अपने आप कर लेगी।" यदि पूछा जाता कि नीरा के लिये कैसा लड़का चाहिये तो फिर नीरा के लिये दूल्हा में उन तमाम गुणों का होना अनिवार्य था जो चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी ज़मीन पर किसी एक मनुष्य में न मिलते।

एक रोज़ एक प्रेमी की बग़ल गर्म करके दूसरे दिन दूसरे के साथ घूमते दिखना, और फिर पहले प्रेमी से जो अकस्मात् भेंट हो जाय तो छिछोरी मुस्कराहट के साथ दो-तीन बार सिर मोड़-मोड़कर उसे देख लेना मानो रोमांस की मीठी-मीठी आग में राल छिड़कना होता है। और ऐसी बातों का परिणाम वही होता है जो होता आया है—ईर्ष्या, द्वेष, ख़ून खौलना, ख़ून सवार होना और...आगे होने वाली घटनाओं से पिछले अनुभवों की सत्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है। नीरा के नाम पर छुरी-चाकू चलने लगे। उसका एक प्रेमी दूसरे प्रेमी को अँधेरे-उजाले में 'समझने' लगा। सभी प्रेमी शरीफ़ हों, तो सब्र की भी गुंजायश होती है। परन्तु कुछ गुण्डे प्रेमी भी तो थे, और गुण्डों से कौन-सा काम बच सकता था। रोज़ ही एक न एक नई आफ़त खड़ी रहती, गाहे-बगाहे पुलिस के धावे भी होने लगे।

और जिस रात नीरा की सत्रहवीं वर्षगाँठ की शानदार दावत खाकर उसके बहत्तर सौ चाहने वाले रास्ते भर पान की पीक थूकते हुए और सिगरटों के जले टुकड़े फेंकते हुए अपने-अपने घर वापस गये, उस रात के भोर ही मकान के पिछवाड़े वाली गली में झाड़ू देते समय मेहतर को बढ़िया कारचोबी की रेशमी साड़ी में लिपटी हुई, नीरा की लाश पड़ी मिली। पोस्ट-मार्टम रिपोर्ट से पता चला—गला घोंटकर उसे मारा गया था। घोंट दिया होगा गला, किसी जले-भुने प्रेमी ने, प्यार से गले लगाते समय। नीरा की माँ रोती-पीटतीं, ज़मीन पर सिर पटक-पटक देतीं, लोग सांत्वना देते। "माँजी, कुछ लोग ज़िन्दा होते हुए भी मरे के बराबर होते हैं, और कुछ लोग मर गये फिर भी मानो जीवित हैं। नीरा आज मरकर भी ज़िन्दा है।" मैं भी सिर हिलाकर धीरे से कह देता 'बेशक, बेशक'। मीना नीरा की मृत्यु के वर्ष भर पूर्व ही मर गई थी। उसकी बात मुख्य प्रसंग से अलग ही रखी गई। केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि नीरा ने जो काम पन्द्रह वर्ष की आयु में उठाया था, वह मीना ग्यारहवें वर्ष से ही कर चली, और आवश्यकता से अधिक। तपेदिक हो गया था। वह बेचारी जवानी आने से पहले ही जवानी के खेल खेलकर चली गई।

आज नीरा नहीं है, मीना नहीं है, उनके चाहने वाले भी नहीं दिखते हैं। नीरा की माँ को कोई पूछने वाला नहीं है। उनके दिमाग़ आसमान से फिर ज़मीन पर आ गये हैं। सकुचाई हुई, चादर ओढ़े कभी-कभी गली में आती-जाती दिख जाती हैं। उनकी अब कोई आमदनी नहीं है। होगी। कभी होगी। कभी फिर दिन फिरेंगे। दुनिया को अभी नन्ही की जवानी का इन्तज़ार है।

५

किरणबाला का कहना था कि उसके पतिदेव शिवशंकर उस पर छुरी लेकर झपटे क्योंकि वह उनके आदेशानुसार महाराज के पास जाने के लिये तैयार न थी और मिस्टर शिवशंकर की शिकायत थी कि किरणबाला दुराचारिणी है और उन्होंने उसे नौकर के साथ सोते हुए देखा, कौन सच कहता है, कौन झूठ, यह तो बाद की बात है, पहले तो यही प्रश्न उठता है कि शिवशंकर और किरणबाला का विवाह हुआ कैसे !

किरणबाला के पिता—वैसे तो लोग कहते हैं कि बाबू अक्षयकुमार थे, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किरणबाला के पिता कौन थे, पिता भी तो कई प्रकार के होते हैं न ? यहाँ मेरा अभिप्राय उन पिता से है जिनसे मिसेज़ पूर्णिमा के किरणबाला जन्मी थी। मिसेज़ पूर्णिमा बिहार की रहने वाली थीं। एक बहुत ही गोरी, अप-टू-डेट भद्र महिला जो रेडियो पर बोलती थीं—अंग्रेज़ी। जब वह बिहार छोड़कर एक वर्ष की किरणबाला को लिये पहले-पहल शहर के महिला आश्रम में ठहरी थीं, तब वह अंग्रेज़ी तो क्या हिन्दी तक ठीक से न बोल पाती थीं और जायदाद के नाम पर उनके पास बिना किनारे की एक सफ़ेद धोती थी। वह विधवा थीं या सधवा, क्वाँरी थीं या क्या थीं, यह कुछ पता नहीं। इस बात को क़रीब पन्द्रह वर्ष बीत चुके थे। और ऐसी बातों के बारे में लोगों का कौतूहल रहता भी है तो कितने दिन ? वह महिला आश्रम में ही रहने लगीं और धीरे-धीरे उसकी मैनेजिंग कमेटी के प्रेसीडेण्ट से उनकी घनिष्ठता बढ़ चली। बाबू अक्षयकुमार

ही उस समय प्रेसीडेण्ट थे। कुछ समय के बाद मिसेज़ पूर्णिमा महिला आश्रम की सुपरिण्टेण्डेण्ट बना दी गई।

इसी काल दैवयोग से बाबू अक्षयकुमार की विवाहिता स्त्री एक लड़की किरणबाला के बराबर दूसरी उससे तनिक छोटी छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। एक दो सप्ताह के बाद ही बाबू अक्षयकुमार ने अपनी कोठी के पास ही बनवाये हुए मकान में मिसेज़ पूर्णिमा को बुलाकर रख लिया।

बाबू अक्षयकुमार के यहाँ किसी बात की कमी न थी। उनकी गिनती ऊँचे लोगों में थी, और फिर वह उस खान्दान के भी तो थे जिनके यहाँ पुश्तों से लक्ष्मी और सरस्वती दोनों पुरोहिताई करती चली आई थीं। मिसेज़ पूर्णिमा का मकान कुछ अधिक लम्बा-चौड़ा न था लेकिन साफ़-सुथरा, अप-टू-डेट फ़ैशन से सजा हुआ था। बिजली के पंखे और रेडियो भी थे। बाबू अक्षयकुमार का अधिक समय वहीं कटता था। बाबू अक्षयकुमार के घर के अन्य लोग मिसेज़ पूर्णिमा के यहाँ न जाते थे; और न मिसेज़ पूर्णिमा उनके यहाँ। मिसेज़ पूर्णिमा से खुल्लम-खुल्ला रिश्ता रखने में न बाबू अक्षयकुमार को कुछ संकोच था, न उनके घर वालों को ही कोई आपत्ति थी, क्योंकि "ऊँची" सभ्यता के लोगों में किसी स्त्री को बिना विवाह के "रख" लेना कोई बुरी बात नहीं समझी जाती, उलटे शायद यह रईसी और बड़प्पन की सनद समझी जाती हो। पर बाहर के कम पढ़े, कम अक़्ल लोगों को अकारण, निरर्थक माथापच्ची करने से कौन रोक सका है, जिनके समय काटने का ज़रिया केवल यही रह गया हो कि शाम के समय दरवाज़े पर हुक़्क़ा ले-लेकर बैठ जाना और हर एक के घर के बारे में प्रपंच करना। कोई कहता वह बाबू अक्षयकुमार की रखैल हैं, कोई कहता वह उन्हें कहीं से भगाकर ले आये

हैं, कोई कहता किरणबाला बाबू अक्षयकुमार से है, कोई कहता पता नहीं किससे। लेकिन इतना अवश्य था कि जब बाबू अक्षयकुमार से किसीकी कुछ ग़रज़ अटकती तो वह मिसेज़ पूर्णिमा की ख़ुशामद पहले करते। 'माँजी' और 'बहनजी' कह-कहकर उनके पीछे पड़ जाते। यह तो निश्चय है कि मिसेज़ पूर्णिमा का विवाह बाबू अक्षयकुमार से कभी नहीं हुआ। परन्तु सभ्य समाज में, डिनर पार्टियों में पूर्णिमादेवी को मिसेज़ पूर्णिमा अक्षयकुमार कहकर ही पुकारा जाता। और स्कूल में जब किरणबाला पढ़ने के लिये भेजी गई तो उसकी वल्दियत के ख़ाने में बाबू अक्षयकुमार का नाम लिखा गया।

जब मैं विद्याध्ययन के सिलसिले में कुछ वर्ष देहली में रहा, तो मेरे एक सहपाठी थे लाल गोपालसिंह, जो अपनी क़िस्म के अकेले ही जीव थे। न जाने कहाँ-कहाँ से वह लड़कियों की फ़ोटो झाड़ लाया करते थे। जादू का तमाशा दिखाने वालों की तरह दाहिने हाथ के अँगूठे और एक उँगली से पकड़कर झटके के साथ जेब से फ़ोटो निकालते, फ़ोटो को पूरे हाथ की दूरी पर लटकाकर, बायें हाथ से अपना हैट पीछे खिसकाकर हालीउड के भाँड़ों की तरह कह चलते, 'डारलिंग...नया माल, नई चीज़; दाम ख़र्च हुए तीस रुपये सात आने छ पाई; टाइम टेकेन चार दिन, ग्राण्ड होटल एक राउण्ड, सिनेमा दो राउण्ड, एक दर्जन केलिको रूमाल, पचीस लिफ़ाफ़े, एक रायटिंग पैड, रेलवे बुक-स्टाल से 'गान विद दी विन्ड' वन किस, हाफ़ ए स्माइल, टू टियर्स और यह फ़ोटो।' मैं मुस्कराकर कह देता, "सस्ते छूटे," मुझे याद है, उन्हीं मित्र के हाथ में इसी प्रकार के बँधे-बँधाये परिचय के साथ मैंने पहली बार किरणबाला का चित्र तब देखा था जब किरणबाला, मिसेज़ पूर्णिमा, बाबू अक्षयकुमार आदि

किसी का नाम तक न सुना था। चित्र से किरणबाला की सही उम्र का अन्दाजा तो न लगा सका था, पर अब अनुमान करता हूँ, उस समय वह पन्द्रह वर्ष की रही होगी। लाल गोपालसिंह से चित्र के बारे में अन्य कुछ परिचय, नाम, पता-ठिकाना न तो मालूम ही होता था और न मैं पूछता ही था, क्योंकि यह तो उनका रोज़ का धन्धा था न ?

जब मैं देहली छोड़कर बनारस आया, तो एक बार लाल गोपालसिंह वहाँ पधारे और उनके साथ उनकी बहिन की ससुराल गया जो उसी शहर में ब्याही हुई थी। वहाँ मिसेज़ पूर्णिमा दिखीं, किरणबाला दिखीं; उनसे मेरा परिचय कराया गया और किरणबाला को देखकर मुझे याद आया कि उसकी फ़ोटो मैं पहले ही देख चुका हूँ, लाल गोपालसिंह के पास। लाल-गोपालसिंह की बहन को मैं जीजी कहता था। मिसेज़ पूर्णिमा ने कहा, "जैसे यह तुम्हारी जीजी वैसे मैं भी तुम्हारी जीजी" और मैंने उनको भी जीजी कहना शुरू कर दिया। वह मुझे 'भाई' कहतीं; किरणबाला मुझे मामाजी कहने लगी। धीरे-धीरे मिसेज़ पूर्णिमा के यहाँ मेरा आना-जाना आरम्भ हो गया। किरणबाला उस समय सोलह वर्ष की थी, सुन्दर आवश्यकता से अधिक थी। मैट्रिक पास कर चुकी थी।

मिसेज़ पूर्णिमा के यहाँ आने-जाने वालों की कमी न थी, न कोई रुकावट ही थी। मिसेज़ पूर्णिमा शहर के ऊँचे तबक़े में गिनी जाती थीं, उनका सम्बन्ध बड़ी-बड़ी जगहों से था। अच्छे-अच्छे लोग उनके घर आते-जाते थे। मिलने-जुलने, उठने-बैठने का तरीक़ा बहुत कुछ अंग्रेजियत लिये हुए था। जिस कमरे में मिसेज़ पूर्णिमा किसीसे बैठी बात कर रही होतीं, वहाँ किरणबाला न जाती। और यदि किरणबाला किसीसे बात करती

होती, तो वहाँ मिसेज़ पूर्णिमा अधिक देर न बैठतीं। मिसेज़ पूर्णिमा के जितने कृपापात्र थे वह तो किरणबाला पर कृपा-दृष्टि रखते ही थे, लेकिन धीरे-धीरे किरणबाला के कुछ नियाज़मन्द अलग से पैदा होने लगे और अब किरणबाला उनका परिचय कराती, "माता, यह विमलचन्द्र हैं, बी० ए० में पढ़ते हैं, कविता बड़ी सुन्दर लिखते हैं," और मिसेज़ पूर्णिमा फिर मिस्टर विमलचन्द्र की एक-दो कविताएँ सुनकर, उनकी प्रशंसा करके अपनी ओर से चाय-पानी से खातिर करतीं। इस प्रकार से कुछ समय बाद मिसेज़ पूर्णिमा व किरणबाला का सम्बन्ध पूर्ववत माँ-बेटी की तरह न रह कर केवल नई सभ्यता छाप दुनियादारी से छिटका हुआ मालूम होने लगा। दोनों सखियों की श्रेणी में अधिक आती थीं, और सखियों की तरह एक दूसरे से व्यवहार होता। और इसका कारण?

बाबू अक्षयकुमार को मिसेज़ पूर्णिमा से अक्सर तू-तू मैं-मैं हो जाया करती थी। बाबू अक्षयकुमार को मिसेज़ पूर्णिमा के मित्रों का, मिलने-जुलने वालों का अनाप-शनाप बढ़ते जाना अच्छा नहीं लगता। उन्होंने ही मिसेज़ पूर्णिमा को ऊँचा उठाया, मिसेज़ पूर्णिमा के ठाठ, बड़े-बड़े लोगों से सम्बन्ध, बड़ी-बड़ी सभा-संस्थाओं में उनकी पूछ, उनका बढ़ा हुआ आदर-सम्मान सब बाबू अक्षयकुमार की ही बदौलत था। लेकिन अब उन्हें मिसेज़ पूर्णिमा का हर एक के साथ बैठकर बातें करना, घूमना-फिरना अखरने लगा था। और इसी बात पर माह में तीन-चार बार दोनों में अच्छी खासी बकवाद हो जाया करती। डाक्टर फ़ैय्याज़ के तो नाम से बाबू अक्षयकुमार को चिढ़ थी, उनसे मिसेज़ पूर्णिमा का मिलना तो दूर की बात, और जब वह डाक्टर फ़ैय्याज़ के बारे में कुछ कहते तो मिसेज़ पूर्णिमा झड़प

उठतीं, 'तुम मुझसे जलने लगे हो, मेरे मित्रों से जलते हो। तुम्हारे नीचपन की हद हो गई। तुम अब मेरे आचरण पर ही शंका करने को कमर कसे बैठे रहते हो।'

परन्तु एक दिन करीब दो बजे किरणबाला जो शिष्टता विरुद्ध बिना पुकारे मिसेज़ पूर्णिमा के कमरे में घुस गई तो उसे मालूम हो गया डाक्टर फैय्याज़ से उसकी माँ का सम्बन्ध क्या है। कुछ दिनों तक मिसेज़ पूर्णिमा की गर्दन झुकी तो रही पर न तो उन्होंने किरणबाला से इस विषय में कुछ कहा, और न किरणबाला ने ही इसका कोई ज़िक्र किया। बात किसी पर ज़ाहिर न हो, विशेषकर बाबू अक्षयकुमार पर, इसलिये माँ-बेटियों में बिना कहे-सुने एक मूक समझौता हो गया। वह ऐसे, कि मिसेज़ पूर्णिमा ने किरणबाला के लिये काफ़ी ढील छोड़ दी। उस पर से रहा-सहा रोक-टोक भी उठा लिया। किरणबाला को पहिले से अधिक स्वच्छन्दता मिल गई। वह कभी-कभी किसी लावारिस नवजवान मित्र को रेडियो स्टार, टेनिस स्टार, फ़िल्म स्टार—बहरहाल कोई न कोई स्टार बनाकर अपने ही कमरे में सुला लेती।

इधर तो यह होता रहा, उधर मनुष्य स्वभाव की विचित्र गति कहिये, बाबू अक्षयकुमार का लगाव अपनी साली से बढ़ता चला गया—स्वर्गीया स्त्री की छोटी बहिन से जो करीब दो वर्ष हुए विधवा हो गई थी। वह रात में उसीके यहाँ रहने लगे। बस शाम को दो-तीन घण्टों के लिये, या कभी-कभी सुबह भी मिसेज़ पूर्णिमा के पास चले आते। जितना बड़ा ढोल, उतनी बड़ी पोल—ठीक ही तो कहा है किसीने!

मिसेज़ पूर्णिमा के सैकड़ों मित्रों ने किरणबाला के विवाह की दावत खानी चाही और किरणबाला के लिए योग्य वर ढूँढ़ा

जाने लगा। परन्तु दावत इने-गिने दस-पाँच लोगों को छोड़कर और किसी के भाग्य में बदी न थी। किरणबाला का विवाह खुल्लम-खुल्ला तय नहीं किया जा सकता था। कुछ अड़चनों का सामना था। और फिर उस शहर से उसका विवाह होना असम्भव-सा प्रतीत होता था क्योंकि वहाँ उलटी-सीधी हवाएँ चला करती थीं। इधर-उधर अस्थायी सम्बन्ध जोड़ लेना तो बड़ा आसान है परन्तु जब विवाह का प्रश्न आता है तो लोग न जाने किन-किन बातों पर विचार करने लगते हैं! बाबू अक्षयकुमार ने सोच-विचारकर सलाह दी, "किरणबाला का विवाह कहीं बाहर तय किया जाय, और बाहर से ही सम्पन्न किया जाय। तुम कहीं बाहर का लड़का तलाशो, और देखो, इन-इन बातों को जाहिर नहीं होना चाहिये।" मिसेज पूर्णिमा की समझ में आ गया कि बात पते की है और किसी भले घराने में उपयुक्त पात्र से किरणबाला का विवाह होना उतना सरल नहीं जितना पहले समझा गया था, और यदि इस प्रतीक्षा में रहा जाय कि कोई मनचाहा लड़का किरणबाला के प्रेमजाल में फँस जाय, और ऐसा फँसे कि तमाम असङ्गत बातें होते हुए भी वह विवाह पर तैयार हो जाय, तो कौन जाने इसमें कितना समय लगे और फिर भी विवाह हो न हो।

मेरे देहली वाले मित्र, लाल गोपालसिंह के चचा ने इस लड़का ढूँढ़ने व फँसाने के कार्य में मिसेज पूर्णिमा की सहायता की। विलायत से लौटे हुए एक चण्डूल, मिस्टर शिवशङ्कर को फाँसा। शिवशङ्कर पहाड़गढ़ रियासत में किसी बड़े ओहदे पर थे। लखनऊ में उनसे किरणबाला की भेंट करा दी गई। 'भेंट' के माने भारतीय रिवाज के अर्थ में 'मुँह दिखाई' से कुछ अधिक और गले लगाने से कुछ कम। शिवशङ्कर मोहित हो गये और

चटपट इन्तजाम करके लखनऊ ही में वैदिक रीति से विवाह कर दिया गया। करीब बारह हजार का सामान, फ़रनीचर, कपड़े-लत्ते, गहने व अन्य उपहार किरणबाला के साथ लाद दिया गया। मुझे केवल इतना मालूम हो सका कि किरणबाला का विवाह हो गया, कब हुआ और किससे हुआ। मिसेज़ पूर्णिमा मुझसे किरणबाला के विवाह के विषय में अधिक बातें न बताना चाहती थीं क्योंकि एक बार उन्होंने बहुत ही सधे हुए शब्दों में मेरे सामने मुझे भाई से दामाद बनाने के इरादे की ओर इशारा किया था और मैंने उतनी ही खूबी से, बिना खुली बातों का अवसर दिये हुए उस प्रस्ताव को वहीं गाड़ दिया था। और फिर मैंने अधिक पूछा भी नहीं।

किरणबाला के विवाह को अभी दस महीने भी न हुए थे। एक रात जब मैं मिसेज़ पूर्णिमा के साथ उनके कमरे में बैठा हुआ था, अचानक किरणबाला अपनी ससुराल से आ धमकी, केवल साड़ी, जम्फर और चप्पल पहिने हुए। साथ में बिस्तर या अन्य कोई सामान न था। हम दोनों उसे देखकर भौचक्के रह गये।

"तू कैसे आई, क्या अकेले आई?" पूछती हुई मिसेज़ पूर्णिमा किरणबाला की बहकी हुई सूरत देखने लगीं। वह फूट-फूटकर रोने लगी। जब शान्त हुई, तब न जाने कितनी बातें कह डालीं। उसकी कहानी सुनने के लिये उस रात दो बजे तक मुझे वहीं रहना पड़ा। शिवशङ्कर की कमर में, कमर के नीचे सफेद दाग़ हैं, वह नापुंसक हैं, उन्होंने धोखा दिया विवाह करके। उन्होंने विवाह अपने लिये नहीं किया बल्कि महाराज को खुश करने के लिये किया। शिवशङ्कर की और महाराज की कभी अच्छी पटती थी। किसी बात पर अनबन हो गई, वह शिवशङ्कर के बहुत ख़िलाफ़ हो गये। शिवशङ्कर को साढ़े छः सौ

रुपये माहवार की जगह से गिराकर तीन सौ की जगह पर कर दिया गया। और फिर उन्हें मोअत्तल कर दिया। महाराज को प्रसन्न करके अपनी खोई नौकरी फिर पाने की ग़रज़ से शिवशङ्कर ने कहा—'किरण डार्लिंग, तुम्हें उसके पास जाना पड़ेगा।' महाराज पहले कई बार किरणबाला को देख चुके थे एक बार उसे अपने महल में चाय भी पिला चुके थे। महाराज किरणबाला की ओर विशेष कृपादृष्टि रखते थे, यह शिवशङ्कर अनुभव करते थे। वह अक्सर किरणबाला के बारे में बातें पूछा करते थे, उसकी प्रशंसा किया करते थे। अब शिवशङ्कर ने अवसर देखा, और कई बार किरणबाला से बोले, 'किरण प्यारी, बिना इसके अब काम नहीं बनता दीखता। तुम्हें उनके पास जाना ही पड़ेगा, उन्हें प्रसन्न करना पड़ेगा। इसमें कोई हर्ज नहीं, आख़िर तुम किस दिन के लिए हो!' परन्तु जब किरणबाला ने कई बार साफ़ इन्कार किया तो शिवशङ्कर उस पर छुरी लेकर झपटे। वह चिल्लाकर कोठे से भागी, जीने से लुढ़कती हुई नीचे धम से गिरी। नौकरों ने दौड़कर उसकी जान बचाई। थोड़ी देर बाद जब शिवशङ्कर बाहर निकल गये, किरणबाला दूधनाथ नौकर के साथ वहाँ से भाग खड़ी हुई, और किसी तरह यहाँ तक पहुँची—यह किरणबाला की कहानी थी।

शौहर के पास से भाग आने की सफ़ाई व उसकी सत्यता में मिसेज पूर्णिमा को कोई भी शङ्का न मालूम हुई; परन्तु बाबू अक्षयकुमार को विश्वास न हुआ और दूसरे दिन मुझे चुपचाप अपने आफ़िस में बुलाकर मेरी जेब में सौ रुपये का एक नोट रखते हुए बोले, "भाई साहब, आप इसी वक्त पहाड़गढ़ चले जाइये और सारी बातों का सही सही पता लगा लाइये। मामला बहुत गम्भीर है और मैं बिला वजह की बलाएँ अपने गले नहीं

लटकाना चाहता। चाहे आप शिवशङ्कर से सीधे मिलें, चाहे किसी और तरह बातें जानने की कोशिश करें, मैं आपको अपनी ओर से सारे अधिकार देता हूँ। उसी रात मैं पहाड़गढ़ के लिये रवाना हो गया।

कई रियासतों में रहने व घूमने-फिरने से व वहाँ के ऊँचे-नीचे सभी प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आने से मेरा स्वयं का एक मत हो गया है। वह यह कि देशी रियासतों के कम उम्र नौसिखिये राजा कुछ तो अपनी जवानी और लौंडेपन के कारण दूर-दूर तक बदनाम हो जाते हैं। गद्दी पर बैठते ही उनके राज्य में से खूबसूरत और जवान लड़कियों का अपने-अपने घरों से ग़ायब होकर उनके महल में पहुँचना रोज़ की बात हो जाती है; और कुछ वहाँ के अधिकारीवर्ग का इतना नैतिक पतन कि वह अपना उल्लू सीधा करने के लिये अपनी बहू-बेटियों को जवान राजा के पास भेजकर उसको आचरणहीन बनाकर उसे सदैव के लिये बुराइयों के मार्ग में फँसा देते हैं। ऐसे शासक के राज्य में रहकर दुराचारिणी स्त्रियाँ भी कभी-कभी अपने सयानपन के नाते राजा की कमज़ोरियों से अनुचित लाभ उठाकर, अपने कुकर्मों का सारा उतरदायित्व उसके सिर फेंक देती हैं। उदाहरणार्थ, जब राज्य में राजा की अय्याशी के फलस्वरूप रोज़ ही लड़कियाँ ग़ायब हो जायँ, तो यदि कोई भी स्त्री चार-पाँच दिन के लिये अपने घर से अन्तर्ध्यान होकर अपने प्रेमी के साथ कहीं सैर-सपाटा कर आये और वापस होने पर, अपने माता-पिता अथवा पतिदेव के आगे सिसकियाँ भर-भरकर कह दे कि मुझे राजा के कर्मचारी उठा ले गये थे, तो कौन उस पर अविश्वास कर सकता है? किसमें साहस है जो उसकी बात के सच-झूठ को जाँचने तक का प्रयत्न करे? गाड़ी में बैठा

हुआ, इसी विचार से उलझता-सुलझता चला जा रहा था कि ऐसे ही एक राजा की छत्रछाया में रहकर, राजा की सारी जवानियों की कहानियाँ सुनकर, शिवशङ्कर व महाराज के सम्बन्ध जानकर, यदि किरणबाला किसी भी कारणवश, अथवा अपना कोई भी मनोरथ सिद्ध करने के लिये अपने पति को छोड़ भागना चाहती हो, तो उसके पास अपने पति पर दोषारोपण के लिये इससे बढ़कर और क्या बहाना हो सकता है? इस कहानी से अधिक प्रभावयुक्त और कौनसी कथा तैयार की जा सकती है? और कौन उसकी बात पर अविश्वास कर सकता था, विशेषकर जब महाराज बदनाम हों, शिवशङ्कर नौकरी से मोअत्तल कर दिये गये हों, और किरणबाला के सौन्दर्य में कोई कमी निकालने वाला सौन्दर्या-लोचक पृथ्वी पर पैदा ही न हुआ हो?

पहाड़गढ़ पहुँचा। शिवशङ्कर से मिला। परिचय दिया। बम्बई में रहता हूँ, किरणबाला और मेरी बहन बनारस में साथ पढ़ती थीं। बड़ी घनिष्ठता थी दोनों में। किरणबाला के विवाह में बहन न आ सकी; अपनी सखी को कुछ उपहार भी न दे सकी। उधर मैं अपने निजी काम से आया था, बहन ने पत्र और कुछ वस्तुएँ भेजी हैं, किरणबाला के लिये। शिवशङ्कर को मेरी बातों पर तनिक भी सन्देह नहीं हुआ। वह बड़ी ख़ातिर से पेश आये और चाय पीते समय किरणबाला के विषय में उन्होंने बातें करना आरम्भ कीं। यह तो मुझे विश्वास था कि यदि किरणबाला के अभियोग ठीक हैं तो शिवशङ्कर किसीसे भी सही बात नहीं बतला सकते थे। मेरा अपना परिचय छिपाने से अन्तर केवल इतना पड़ता था कि बनारस और मिसेज़ पूर्णिमा या बाबू अक्षयकुमार के पास से आया हुआ समझकर वह

चौकन्ने होकर बातें करते पर इधर-उधर के लोगों से जिनके उक्त घटना से अनभिज्ञ होने का विश्वास हो, वह उतने सतर्क न रहते।

शिवशंकर उस समय उन सारी बातों से अपना पक्ष मज़बूत कर रहे थे जो साधारण परिस्थिति में शिवशंकर ऐसे विलायत से लौटे आदमी के लिये कोई विशेष महत्त्व न रखती थीं। उन्हें धोखा दिया गया, उनसे सारी बातें छिपाई गईं। किरणबाला के पिता का पता नहीं, किरणबाला की माँ की जाति का पता नहीं। किरणबाला वर्णसंकर सन्तान थी, वह माँ की चरित्र-हीनता की सनद है। और किरणबाला? वह क्वाँरेपन से ही बदनाम थी, उसके आमालनामे के सारे पृष्ठ काले थे। फिर शिवशंकर प्रसंग की घटना पर उतरे। किरणबाला के पीछे उन्होंने हज़ारों रुपये इस थोड़े समय में खर्च कर डाले। उसकी बीती बातों के बावजूद भी वह उसे अपनी जान से बढ़कर चाहते थे। इतना सब होते हुए भी वह दूसरे के पास जाय। उन्होंने उसे दूधनाथ के साथ लेटे हुए पाया। दूधनाथ किरणबाला के साथ उसके मायके से आया हुआ नौकर था, आयु ३० वर्ष की होगी। मिसेज़ पूर्णिमा ने जब दूधनाथ की वफ़ादारियों की प्रशंसा की तो शिवशंकर उसे अपने साथ रखने के लिये माँग लाये थे। मिसेज़ पूर्णिमा के यहाँ वह बारह वर्ष से नौकरी कर रहा था। और शिवशंकर यह कैसे सहन कर सकते थे कि उसे उस नौकर के साथ लेटे हुए देखें! किरणबाला बजाय शिवशंकर के आगे सिर झुका देने के उनसे बोली—'मिस्टर शिवशंकर, मेरी तबियत में जो आयेगा सो करूँगी।' शिवशंकर के ग्लानि, क्षोभ, क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्होंने चाहा—जान दे दें, ज़हर खाकर मर जायँ पर अब वह किरण-

बाला का न मुह देखें, न अपना मुँह उसे दिखायें। वह उसे ऐसा सबक सिखा जाना चाहते थे जो उसे जन्मजन्मांतर तक याद रहे। उन्होंने सोचा—आत्महत्या, आत्महत्या। आवेश में उन्होंने छुरी उठाकर चाहा अपने सीने में भोंक लें। किरणबाला सामने थी और वह चिल्लाकर भागी, चिल्लाकर—

मैंने बीच ही में व्यंग किया, "चिल्लाने की बात ही थी। आपके सीने को उसने अपना सीना समझा। तो क्या बुरा किया?"

शिवशंकर चौंक पड़े, "नहीं नहीं, मैंने अपने ही सीने में छुरी मारना चाहा था, मेरे सिर पर आत्महत्या सवार थी।" और फिर एक कुशल अभिनेता की तरह हवा में हाथ उठाकर बोले, "किरण, डारलिंग किरण, हाउ कैन आइ किल वन हूम आइ लव* ?" तीन-चार घण्टे इतमीनान के साथ शिवशंकर की बातें सुनकर मैं उठ खड़ा हुआ।

इधर-उधर से और तमाम खोज करने पर भी मैं किसी निष्कर्श पर नहीं पहुँच सका और यह भी न निश्चय हो सका कि कौन कितना झूठ बोलता है। मैं बनारस वापस आया। स्टेशन से सीधे अपने घर आकर बिस्तर खोला ही था कि दूधनाथ ने आवाज दी और बाहर से पूछा, "बाबूजी बाहर गये थे। आये कि नहीं?" मेरे उत्तर देने पर वह यह कहकर चला गया, "मैं अभी घंटे भर में आता हूँ, कहीं जाइयेगा नहीं।"

घण्टा बीतने के पहले ही दूधनाथ ने एक लिफ़ाफ़ा लाकर दिया। मैंने खोला—किरणबाला का पत्र था। लिखा-

---

* जिसे मैं प्यार करता हूँ उसकी जान कैसे ले सकता हूँ।

था—"मामाजी, बाबूजी या माता से मिलने के पहले आज शाम को ठीक ७ बजे मुझसे ऐडेल्फी होटल में मिलने का कष्ट कीजियेगा, आवश्यक काम है इन्तजार करूँगी। किरण।"

मैंने दूधनाथ से कह दिया, 'कह देना, कहा है, अच्छा'।

निश्चित समय पर होटल में किरणबाला से भेंट हुई। मेरी चाय-टोस्ट से खूब खातिर की गई। उसके बाद इधर-उधर की बातें करती हुई किरणबाला मुझे गंगा किनारे ले गई। नौ बज रहे थे। ठण्ढ बढ़ती जा रही थी। गंगा के किनारे का वह हिस्सा गंगाभक्तों से करीब-करीब खाली हो गया था। चाँदनी से बचकर घने सेमल के नीचे एक चट्टान पर हम दोनों बैठे थे। किरणबाला ने मुझे क्यों बुलाया था, क्या कहना चाहती थी, यह अभी तक समझ में न आया था। उसने अभी तक तो ऐसी कोई विशेष बात नहीं कही, सिवाय इसके कि अमुक नाटक में हीरो यदि ऐसा न करता तो यह होता और हीरोइन ऐसा न करती तो यह होता। और जब मैंने पूछा, "हाँ, तो तुमने बुलाया किस लिये था? मैंने समझा कोई खास बात होगी!" तो उसने एकदम अपनी बाहें मेरे गले में डाल दीं और मेरा मुँह अपने मुँह के पास घसीटकर बहुत भोलेपन के साथ कहने लगी, "देखिये मामाजी, आपको मेरे सिर की क़सम जो किसीसे कहा। सुन लीजियेगा, सब्र कीजिये" और फिर क्षण भर रुककर, आँखें दो-तीन बार जल्दी-जल्दी चलाकर, अपने ओंठ मेरे ओंठों के नजदीक लाकर शायद यह इन्तजार किया कि मैं उसे उत्साहित करता हूँ या नहीं। फिर अपने आप, थोड़ा रुक-रुककर, हिचकते हुए कहना शुरू कर दिया। मैं काठ का उल्लू बना हुआ, उसकी बाहों में अपना गला फँसाये सुन रहा था। कभी-कभी विशेष-अवसरों पर काठ का उल्लू बन जाने से ही बड़ा आनन्द आता

है, बड़ा लाभ होता है। अपने में कोई भावना नहीं होती, अपने पर उस समय जवानी दिवानी का नशा नहीं होता और फिर बिना स्वयं पागल हुए दूसरे के पागलपन का भली भाँति अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। किरणबाला बोली, "मैं शिवशंकर के साथ नहीं रहना चाहती, नहीं रह सकती। इस ओर किसी के भी प्रयत्न निष्फल होंगे। मैंने विवाह करके मूर्खता की। विवाह एक ट्रैजेडी है, जीवन का सारा रोमांस भाग जाता है, सिर्फ़ विवाह के नाम से नेवर मैरी* मामाजी नेवर मैरी, नहीं तो इस सुन्दर मुखड़े को फिर कोई भी लड़की टके मोल भी न पूछेगी। रूप और यौवन की क़द्र तब तक है, जब तक वह विवाह का सार्टीफिकेट लेकर किसी एक के नहीं कहलाने लगते......"

छोड़िये भी अब किरणबाला को और किरणबाला की कहानी को। मेरी सारी मेहनत सफल हो गई और मैं अब बाबू अक्षयकुमार को किरणबाला-शिवशंकर की गाथा, एक-एक शब्द उधेड़-उधेड़कर शरलॉक होम्ज़ की तरह समझा सकता था। परन्तु मैंने सोचा—लाभ! और मैं चुप ही रह गया। शिवशंकर ने किरणबाला को वापस बुलाने के हज़ार प्रयत्न किये, पर उनको हर प्रयत्न का जवाब मुकद्दमे की धमकी के साथ दिया गया। मिसेज़ पूर्णिमा कृष्ण भगवान् की बड़ी लम्बी चौड़ी पुजारिन हो गई हैं। रोज़ संध्या को नहा-धोकर, सोलह श्रृंगार करके कृष्ण की बड़ी-सी मूर्ति के सामने बैठती हैं, फूलों के हार गूँथ-गूँथकर कृष्ण को सजाती हैं, स्वयं को सजाती हैं और चौकी के नीचे रखे उगालदान में पान की पीक थूक-थूककर,

---

*कभी विवाह न करो।

हाथ जोड़कर गुनगुनाया करती हैं, “मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।”

और किरणबाला ?—

यदि आपके पास फालतू पैसा बहुत है, पास में एक मोटर भी है; यदि आप पोशाक से ‘टिपटाप’ हैं, तबियत से रसिक हैं, मिलने जुलने, जान-पहचान पैदा करने के अंग्रेजी तरीकों से वाक़िफ़ हैं, चुस्त हैं, देखने-सुनने में साधारणतया सुन्दर हैं और किरणबाला की नापतौल में आप ‘ऊँऽऽऽऽऽऽऽऽचे’ आदर्श जँचते हैं, और उसको तनिक भी विश्वास हो सके कि आप पानी की तरह पैसा बहाकर उसके रोमांस के झूले को दो पेंग और ऊपर उठा सकते हैं, तो वह किसी भी ‘ऊँऽऽऽची’ जगह आपको मिल जायगी। वह आपकी है; आपकी हो सकती है।

६

चित्रकला में दिलचस्पी रखने वालों ने मज़हर का नाम अवश्य सुना होगा। हजारों चित्रकार मिलेंगे जो आपको अपने बनाये चित्र दिखाते समय यह ज़रूर कहेंगे, “अजी यह सब उस्ताद मज़हर की जूतियों का सदक़ा है जो बन्दा भी कुछ कर-धर लेता है”। मज़हर एक बहुत प्रसिद्ध चित्रकार थे। उनके बनाये हुए चित्र आपको अच्छी-अच्छी जगहों पर देखने को मिल जायेंगे। दुबले-पतले से, लम्बे से आदमी। मरते समय आयु थी साठ वर्ष की लेकिन देखने में चालीस के आस-पास ही लगते थे।

उनके पिता शीराज़ के पठान थे। घोड़ियों का व्यापार करते

थे और अपने फ़न में वह भी उस्ताद थे। मालिश के जोर से गदहों तक को वह घोड़ों के बराबर तैयार कर देते थे। सन् १८५० में व्यापार के सिलसिले में हिन्दुस्थान आये, नवाबी की रंगत ने उनको मोह लिया और वह एक ख़ूबसूरत तम्बोलिन फ़ातिमा के साथ निकाह पढ़वाकर लखनऊ में ही जम गये। शाही अस्तबल का इन्तजाम, उसकी देखभाल उनके सुपुर्द कर दिया गया। ठाठ के साथ उनकी गुजर होने लगी। धीरे-धीरे चार-पाँच मकान भी उन्होंने खड़े कर लिये। फ़ातिमा बेगम ने मजहर को जन्म दिया। मजहर के वालिद ने चार साल बाद ही एक और शादी की जिससे नौशाद पैदा हुये।

मजहर का बचपन कनकव्वेबाजी में कटा। बटेरबाजी का भी शौक़ चर्राया और जब वह एक दिन नख़्ख़ास से एक बटेर ख़रीदकर लाये और अपने वालिद को दिखाकर बोले, "अब्बाजान, मैं बटेर लड़ाऊँगा, इसके लिये एक काबुक बनवा दीजिये।" तो उन्होंने एक ही हाथ में बटेर की गरदन मरोड़ दी। गरजकर बोले, "पठान का बच्चा बटेर लड़ायेगा? न पढ़ना-लिखना, न कोई हुनर सीखना! कम्बख़्त को न जाने कहाँ के शौक़ लग गये हैं।" मजहर के लिये मौलवी बिठाया गया, मगर वह रोज ही मौलवी को बुत्ता दिखाकर इधर-उधर खिसक जाते और मौलवी बेचारे अल्लाह से शागिर्द के लिये दुआ मनाते हुए घर लौट जाते। वैसे बुढ़ापा आते-आते मजहर ने अपनी मेहनत से कामचलाऊ, छुट्टी की दरख़्वास्त लिखने भर की, अंग्रेजी सीख ली थी। अरबी, फ़ारसी व हिन्दी में तो उम्मेद से ज्यादह दख़ल रखने लगे थे।

मजहर की जवानी (जवानी नहीं, जवानियों) का अफ़साना बहुत लम्बा-चौड़ा हो जायगा। संक्षेप में यह, वह हद दरजे के

आशिक़ मिज़ाज निकले। आँखों में सुरमा लगाकर, और बीच से माँग निकालकर, पट्टे सँवारकर घर से निकल जाते। फिर दो-चार दिन तक उनका पता न रहता। दिन किसीकी तलाश में बीता तो रात किसीके साये में कटी। कोई जगह उनके लिये दूर न थी। बाप ने व्यापार के सिलसिले में दुनिया भर का चक्कर लगाया था, बेटे ने औरतों के फ़िराक़ में दूर-दूर तक ख़ाक छानी। बचपन में लगा हुआ एक शौक़, उनका हुनर, पेशा और रोटियों का सहारा बन गया था। उनमें चित्रकारी की कुछ ईश्वरीय देन थी। कलाकार गज़ब के थे। कलकत्ते में हज़रत के जौहर को देखकर अच्छे-अच्छे आशिकों के कलेजे हिल गये थे। जिस कोठी के सबसे ऊपरी मंज़िल पर बग़ल वाले कमरे में मज़हर रहते थे, उसीके बराबर, उतनी ही ऊँची दूसरी कोठी थी। दोनों कोठियों के बीच में करीब ढाई गज़ जगह छूटी थी। दूसरी कोठी में सामने वाले कमरे में कोई बेगम साहिबा रहती थीं। बेगम से इशारेबाज़ी ख़ूब चलती थी। और एक रात न जाने कहाँ से लोगों ने देख लिया—मज़हर ने एक तीन साढ़े तीन गज़ का मोटा-सा लोहे का सलाख़ का एक सिरा अपनी खिड़की पर जमाया, दूसरा बेगम साहिबा की खिड़की पर, और उसके सहारे उनके कमरे में उतर गये, साठ फ़ुट की ऊँचाई से। हाथ छूट जाता तो नीचे कोई मज़हर की हड्डियाँ तक न बीन पाता।

मज़हर गाना बहुत बढ़िया जानते थे। और उससे बढ़कर सीटी बजाना। सन्नाटी रात में अपनी छत पर खड़े होकर जब वह सामने वाले मकान में रहने वाली एक ऐंग्लो इण्डियन लड़की की नींद में नग़में भरने के लिये बागेश्री अलापते, तो नीचे सड़क पर रास्ता चलने वाले खड़े हो जाते। फुटबाल में भी

थोड़ा-बहुत नाम पैदा कर रखा था, परन्तु इस खेल में न औरतों की ग़ुज़र थी, न उनका ख़्याल, सो मज़हर से यह शौक़ अधिक दिन न चल सका।

मज़हर के वालिद से मज़हर की कभी न पटी। साल-साल बीत जाते मगर दोनों को एक दूसरे के सामने होने का मौक़ा न आता। जब मज़हर तीस साल के हुए तो उनके वालिद ने अपने पठानपन का सहारा लिया। मज़हर का गला पकड़कर एक के साथ उनका निकाह ज़बर्दस्ती पढ़वा दिया। बीबी ख़ूबसूरत मिली थीं; कलाकार के दृष्टिकोण से ख़ूबसूरत। जब तक निकाह न हुआ, मज़हर अपने वालिद को पेट भर गालियाँ सुनाते रहे। लेकिन चाँदनी रात में चाँद के ही सामने झिलमिल घूँघट उलटकर जो बीबी का मुँह देखा तो अब्बाजान को दुआएँ देने लगे; अब्बाजान के मरने के बाद तक उन्हें दुआएँ देते रहे।

चाँद को चुनौती देने वाली वह बीवी ज्यादा दिनों तक जिन्दा न रह सकी। कुछ दिनों तक मज़हर वीराने की सर्दियों में ठिठुरते रहे, काँपते रहे, मायूस रहे, मजबूर रहे। पर रूप के उपासक को प्रेम से क्या ग़रज़? जिसकी निगाह में झाड़ फ़ानूस आ जाएँ उसे घर की कुप्पी बुझ जाने का कितने दिन मलाल? और जलवये नूर के आगे चाँद की चमक की क्या बिसात? कुछ अरसे के बाद मज़हर को मिल गई एक शहज़ादी। शहज़ादी के माने बादशाहज़ादी नहीं; शहज़ादी उसका नाम था। कुछ लोग उसे रूप की ज्वाला कहते थे, कुछ उसे यौवन की आँधी समझते थे। मज़हर की आँखों ने देखा—डूबने के लिये बड़ा गहरा नशा था। न जाने किस मयख़ाने की खिंची हुई थी। उन्होंने सोचा—शहज़ादी को बाहों में भरकर आँखों से, ओठों

से, कोई रस पी भर ले। फिर क्या वह कभी होश में आ सकता है? जब वह अपने छज्जे पर खड़ी हुई मज़हर की सीटी सुनकर चिक उठाकर, झाँककर देख लेती, तो मज़हर ओंठों के भीतर गुनगुना उठते, "काठे ठाढ़ो कामिनिया, कान में पहिने बाले दो, देखा लागा खलक खुदा का एक चाँद औ' हाले* दो।"

मज़हर क़िस्मत के सिकन्दर थे। इसमें कोई शक नहीं। शहज़ादी के मकान के अगवाड़े-पिछवाड़े हज़ारों रक़ीब चौकीदारी करते ही रहे, मगर मज़हर थे कि एक रात शहज़ादी को उड़ा ही ले गये और कहीं दूर जाकर उससे निकाह कर लिया। कुछ अरसे बाद, जब रक़ीबों के जोश ठण्डे पड़ गए, उसे लाकर अपने मकान में रख लिया।

शहज़ादी को मज़हर बहुत चाहते थे। उसे छींक आती तो मज़हर का कलेजा धड़क उठता और वह नुस्ख़ा बँधाने दौड़े जाते। शहज़ादी कभी मज़ा लेने के लिये ही रूठ जाती तो मज़हर उसको मनाने के लिये ज़मीन-आसमान एक कर देते। मज़हर ने उसको हर तरह की आज़ादी दे रखी थी; उसके नख़रों का मूल्य उनसे चुकाते ही न बनता था। एक दिन शहज़ादी गरजी "यह क्या निखट्टुओं की तरह दिन-रात घर में घुसे बैठे रहते हो। कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते?" मज़हर ने कहा, "नौकरी की क्या ज़रूरत है बीबी, अपनी ज़रूरत से ज़्यादा तो मैं घर बैठे तस्वीरें बना-बनाकर पैदा कर लेता हूँ। दो सौ से कम मेरी कोई तस्वीर नहीं बिकती है।"

---

*तूफ़ान आने के पहिले चाँद के इर्द-गिर्द एक घेरा पड़ जाता है जिससे मल्लाह आने वाले तूफ़ान को जान लेते हैं।

लेकिन बीबी न मानतीं। भवें सिकोड़कर फ़रमाती, "इससे क्या? तुम इस तरह लाखों रुपया पैदा करो, मगर कहलाओगे निखट्टू ही। नौकरी में जो इज्ज़त है वह धन्धे-रोज़गार में नहीं। देखो न, कल्लन खाँ कचेहरी में नौकर हैं। उन्हें लोग पुकारते हैं 'बड़े बाबू', और तुम्हें? सिर्फ़ मुसव्वर, जो तस्वीर बनाते हैं, हुँह!"

बीबी की आँखों में मज़हर की इज्ज़त कम न हो इसलिये उन्होंने एक दफ़्तर में ६०) माहवार पर नौकरी कर ली। नौ बजे सुबह घर से निकल जाते, शाम को पाँच बजे लौटकर आते।

शहज़ादी घर पर दिन भर अकेली रहती। कोठे पर खड़ी होकर पड़ोसिनों से बातें किया करती। मकान के नीचे वाले हिस्से में एक बनिये की दूकान थी। एक बिसाती की। एक तमाखू वाले की। सामने वाले घर के नीचे एक तम्बोली की दूकान थी। तम्बोली था साँवला-सा, हट्टा-कट्टा, घुँघराले बालों में ज़रूरत से ज्यादा तेल चुपोड़े, आँखों में सुरमा लगाये, दिन-रात ग़ज़ल गुनगुनाने वाला, चौबीस-पचीस वर्ष का नवजवान अय्यूब नाम था उसका। ऊपर से शहज़ादी चिल्लातीं, "राम-अधार! पाव भर कत्था और आध सेर डली भेज दो" और रामअधार बनिया का लड़का ऊपर कत्था-सुपारी दे जाता। वह चिल्लातीं 'पान' और अय्यूब तम्बोली दिन में चार-पाँच बार दो-दो चार-चार पैसे के पान लपेटकर ऊपर कोठे पर फेंक दिया करता। बेगम को नौकर की ज़रूरत न थी। जो चीज़ चाहतीं, नीचे से आ जाती। नीचे न भी होती, तो कहीं से भी मँगवाकर कोठे पर पहुँचा दी जाती। पैसे की चिन्ता न थी। महीना ख़त्म होने पर मज़हर सबका हिसाब कर दिया करते थे। कभी-कभी अय्यूब मज़हर की ग़ैरहाज़िरी में आधे ज़ीने

तक चढ़ आता। जब उसे पैसों की ज़रूरत होती और पहली तारीख़ तक रुकने से उसका काम न चलता। मज़हर को दिन भर बीबी का इस तरह दूकानदारों से 'रसूक़' पैदा करना अच्छा न लगता। परन्तु शहज़ादी की एक झड़प में वह समझ गये, उन्होंने 'रसूक़' शब्द कड़ा इस्तेमाल किया था, और अनुचित भी। उन्होंने अपने दिल को समझाया, 'बेचारी दिन भर घर में अकेली रहती है। करे भी तो क्या? जी घबराता होगा। अगर उसका दिल इसी तरह बहल जाता है तो हर्ज क्या है?'

शहज़ादी के साथ तीन वर्ष बीत चुके थे। मज़हर में एक बड़ा भारी गुण था जो हज़ार में नौ सौ निन्यानबे लोगों में नहीं पाया जाता। तबियत के वह बेइन्तहा नेक थे। हिन्दू हो या मुसलमान, रिश्तेदार हो या अजनबी, हाथ-पैर से, रुपये-पैसे से वह हर एक की मदद को हमेशा तैयार रहते थे। और यही वजह थी कि उनके हज़ारों हमदर्द थे। मददगार थे और उनकी बढ़ी-चढ़ी इज़्ज़त थी। किसीमें इतनी मजाल न थी कि मज़हर को किसी तरह का नुक़सान पहुँचाने की कोशिश करे।

लेकिन हज़ार ख़ुदापरस्तों के मुक़ाबले एक शैतानपरस्त तो पैदा ही हो जाता है। शैतान की भी तो कोई हस्ती है! एक शाम को जो मज़हर काम से लौटकर आये तो घर पर शहज़ादी न दिखीं। दो-तीन दिन की खोज के बाद भी कुछ पता न चला। मालूम हुआ अय्यूब तम्बोली भी ग़ायब था। धीरे-धीरे लोगों की ज़बान खुलने लगी। जब मज़हर शहज़ादी को खो बैठे, तब उन पर सब राज़ ज़ाहिर हुए। शहज़ादी से अय्यूब की बहुत अरसे से इशारेबाज़ी चल रही थी। पहले पान सड़क से कोठे पर दिन में दो-चार बार फेंके जाते थे, फिर मज़हर की ग़ैरमौजूदगी में अय्यूब ख़ुद पान लेकर कोठे पर जाने लगा, फिर धीरे-धीरे

दोपहर में अय्यूब के तीन-चार घण्टे शहज़ादी के पास ही कटते और—मज़हर ने अपना माथा पीट लिया। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर ढाई साल की शमशाद और एक साल की मरियम—इन दोनों बच्चियों की ओर, अपनी और शहज़ादी की मुहब्बत की सौग़ात की ओर देखा जो शहज़ादी उनके पास तसल्ली के लिये छोड़ गई थी।

चौदह वर्ष बीत गये।

बीच में आठ-दस बार शहज़ादी के पत्र बम्बई से आये, कई बार वह ख़ुद आई; और यह सब केवल रुपया वसूलने के लिये। मज़हर शहज़ादी को तलाक़ नहीं देना चाहते थे, क्योंकि फिर मेहर के पचास हज़ार रुपयों का सवाल उठता था। मुसलमानों में मेहर के रिवाज के साथ एक विशेषता यह भी तो है कि कुँजड़ा भी हसीन लड़की को निकाह के लिये तैयार करने पर लाखों रुपये का मेहर लिख देता है। फिर बीबी का मेहर की रक़म वसूलना तो तब की बात है जब शौहर मरे और हड़िया तवा की फ़ेहरिस्त बने या जब तलाक़ की नौबत आये। मुहब्बत और मुरव्वत की साँकलों में जकड़ी, वैवाहिक जीवन व्यतीत करती हुई, बीबी की हैसियत से रहती हुई औरत को शौहर की मौत या तलाक़ के पहिले इसकी गुंजायश ही नहीं कि वह मेहर वसूल कर सके। 'इन्सानियत' और 'अपनापन' ही फिर कहाँ रह गया? मज़हर यह भी नहीं चाहते थे कि शहज़ादी अदालत जाय, तलाक़ या मेहर के लिये, क्योंकि शहर में और दूर-दूर तक अपनी जो इज़्ज़त उन्होंने बना रखी थी, उस पर पानी नहीं फिरने देना चाहते थे। अजीब मनोदशा थी, अजीब भावनाएँ थीं। सीधे इतने कि जिस विचारधारा में बह रहे थे वह शहज़ादी पर ज़ाहिर करके ख़ुद अपनी दुम उसके हाथ में

पकड़ा बैठे। वह जब कभी बम्बई से आकर इनकी खोपड़ी पर धमक जाती, तो मज़हर जल्द से जल्द उसे दो-चार सौ रुपया देकर अपना पिण्ड छुड़ाते। अगर पहले से उन्हें सूँघ मिल जाती कि बेगम साहिबा शहर में आ गई हैं, तो जैसे बैठे होते वैसे ही फ़रार हो जाते। दो-तीन दिन कहीं और काटते। शमशाद और मरियम से मिलकर शहज़ादी लौट जाती।

जुलाई १९३९ में मज़हर से मेरा परिचय हुआ जब मुझे एक मासिक-पत्रिका के लिये टायटिलपेज बनवाने की ज़रूरत पड़ी। उस दिन का परिचय धीरे-धीरे एक घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो गया। हम दोनों की आयु में बड़ा अन्तर था, पर मित्रता को आयु के अन्तर से क्या प्रयोजन? वह मुझे अपने छोटे भाई की तरह समझते, मानते और सदैव मेरी सहायता को तैयार रहते। मज़हर का मेरे ऊपर अन्धविश्वास हो गया। उनकी लड़कियाँ मुझसे परदा न करतीं, मेरे सामने बराबर निकलतीं, बातें करतीं। कभी जब मज़हर को फ़ुरसत न होती, और उन लड़कियों को सिनेमा देखने की ज़िद सवार होती, तो वह उन दोनों को मेरे साथ सिनेमा देखने भेज देते। सड़क पर एक हिन्दू का लड़का धोती कुरते में, दो मुसलमान लड़कियाँ बुरक़े में लेकर चलता, तो लोगों की आँखें हर ओर से उठतीं। हिन्दू देखकर खुश होते, मुसलमान कुढ़ जाते। दोनों पागल अपने-अपने दिमाग़ ख़राब करते, जब मज़हर के रिश्तेदार बिगड़कर कहते, "आपकी अक़्ल पर पत्थर पड़ गये हैं। जवान जवान लड़कियों को सिनेमा देखने भेजते हैं, उस हिन्दू के लड़के के साथ अकेले!" मज़हर जवाब देते, "तुम ऐसे हज़ार मुसलमान रिश्तेदारों से कहीं ज़्यादा मुझे उस हिन्दू के लड़के पर यक़ीन है।" सब अपना-अपना मुँह पीटकर रह जाते।

मज़हर के रिश्तेदारों ने मजहर से अपने सम्बन्ध बहुत कुछ ढीले कर लिये थे, क्योंकि वह उनके चलाये हुए रास्तों पर आँख बन्द करके न चल सके। हिन्दुओं को काफ़िर और मुसलमानों को अल्लाह वाला न समझ सके।

जवानी के नाते शमशाद व मरियम कुछ जरूरत से ज्यादा बातें कर बैठती थीं। एक रोज़ सिनेमा देखने गये। दूसरे दिन रात को जो मजहर के यहाँ पहुँचा तो वह नमाज़ पढ़ने गये हुए थे। शमशाद ने एक तस्वीर लाकर मेरे सामने रख दी। बोली, "देखिये, यह तस्वीर मैंने बनाई है।" मैंने देखा—एक सुन्दर-सी लड़की, शायद शमशाद की शकल की, एक सुन्दर से लड़के की ओर देख रही है, हसरत भरी निगाहों से। वह लड़का, शायद मेरी सूरत का, दूसरी ओर देख रहा था; भवें तनी थीं, आँखें सिकुड़ रही थीं; और नीचे उर्दू में लिखा था, 'कब तक खिंची रहेगी, कब तक तनी रहेगी, किसकी बनी रही है, किसकी बनी रहेगी।'

मैं तस्वीर देखकर मुस्करा दिया, 'तस्वीर तो तुमने बहुत बढ़िया बनाई है,' मैंने तारीफ की। शमशाद ने अपना सिर झुका लिया। इतने में मजहर नमाज़ पढ़कर वापस आ गये और शमशाद जल्दी से कहती हुई चली गई, 'अब्बा को तस्वीर न दिखाइयेगा।' मजहर ने आते ही पूछा, 'शमशाद इस वक्त मेरे आते ही आपके पास से भाग क्यों गई? रोज तो ऐसा न होता था?' मैंने उनकी बात का उत्तर न देकर उनके आगे तस्वीर खिसका दी और बोला, "देखिये, शमशाद ने अब आपके रंगों पर हाथ साफ़ करना शुरू किया है।" "शमशाद ने तस्वीर बनाई है? वह बना लेती है?" मज़हर ने आश्चर्य प्रगट किया और फिर हँसते हुए बोले, "वल्लाह, तस्वीर तो खूब ही बनी है,

आप इस पर अपनी राय तो पास कीजिये ?" मैंने ब्रुश उठाकर तस्वीर वाली लड़की की नाक लाल रंग दी, तस्वीर शमशाद को वापस कर दी गई। मगर तस्वीर बनी अच्छी थी, इसमें कोई शक नहीं, कलाकार की लड़की थी न !

शमशाद का मुख गोरा नहीं था, काला नहीं था, गोल लम्बा कुछ भी नहीं; कोई बहुत सुन्दर भी नहीं परन्तु कलापूर्ण था। आकर्षण बहुत था, दुबली बहुत थी। मजहर के जिस्म की ही एक खपच्ची-सी मालूम होती थी, सीना तो उसके करीब-करीब था ही नहीं। स्त्रियों के सीना न होना, अथवा इतना कम होना कि मालूम ही न होना एक रोग होता है। एक तो पैदायशी, और दूसरे कुछ कारणोंवश भी ऐसा हो जाता है। यही हाल मरियम का भी था। मरियम के लिये यह कहा जा सकता था कि उसकी अभी इतनी आयु ही न आई थी कि इस ओर कोई गौर किया जा सके पर शमशाद तो अठारह वर्ष से ऊँची हो गई थी। इन दोनों को खाने-पीने की कोई कमी न थी। नीचे पंसारी की दूकान से घी के पीपे चले आते, दिन भर दोनों लड़कियाँ नये-नये पकवान बनाने में दिमाग़ खर्च किया करतीं और शाम को जब मैं पहुँचता तो मजहर तश्तरी या प्याले में कुछ-न-कुछ लिये हुए आते और आगे रखकर कहते, "अल्लाह क़सम चखिये तो क्या चीज़ बनाई है इन लड़कियों ने। मैं तो पहचान न पाया क्या है, मगर चीज़ है बढ़िया।" फिर भी शमशाद या मरियम पर बोटी न चढ़ती। लगता जैसे उन्हें दिक़ की बीमारी हो।

मैं मजहर से कहता, "शमशाद की शादी कहीं तय करिये। आखिर कब कीजियेगा ? जब बुड्ढी हो जायेंगी......" तो मजहर थोड़े से मायूस होकर धीरे से जवाब देते, "अरे क्या करूँ इनकी शादी। देख रहे हैं न आप जो इनकी हालत है ?

कुछ है नहीं, फ़कत एक साँस की बुनियाद पर यह हड्डियों का ढाँचा क़ायम है। शादी के बाद के अलामात बरदाश्त कर सकेंगी यह? भाई, अल्लाह न करे, मुझे तो डर लगता है कि शमशाद के एक बार भी बच्चा रह गया तो यह फिर उठ नहीं सकती है।" और इस प्रकार शमशाद और मरियम की शादी की बात हवा हो जाती। मैं भी इस बात पर ज़्यादा जोर न देता क्योंकि मज़हर मुझ पर लाख यकीन रखते हों, परन्तु परिस्थितियों को, दुनिया को और अपने को देखकर मनुष्य को एक परिमित दायरे में ही रहना चाहिये, रहना पड़ता है।

शमशाद और मरियम पर कड़ा प्रतिबन्ध रहता। उनकी देखभाल, निगरानी पर बड़ा ख्याल रखा जाता; उनकी माँ के खून का असर उन पर न आने पाये, इस बात की हरचन्द कोशिश की जाती। लड़कियों को कुरान व हदीस घोट-घोटकर पिलाया गया। मज़हर हिन्दी कमाल की जानते थे। स्वामी दयानन्द ने जब सत्यार्थ प्रकाश रचकर कुरान पर आक्षेप किये थे, मज़हर केवल उनको पढ़ने व समझने के लिये ठुमरियाँ व दादरे की हिन्दी छोड़कर धर्म और ईश्वर की हिन्दी पढ़ने को उतारू हुए। रास्ते में इधर-उधर की तमाम चीजें भी बटोरते चले। हिन्दू संस्कृति, और सभ्यता की पृष्ठभूमि पर आदर्श और चरित्र के पाठ शमशाद और मरियम को पढ़ाये जाते। आचार विचार से मज़हर हिन्दू अधिक थे, मुसलमान कम। शमशाद और मरियम से वह अपने मुसलमान रिश्तेदारों, भाई-भतीजों को बहुत कम मिलने देते थे। वह समझते थे कि हिन्दू में अब भी वह भावना मौजूद है कि वह भाई या मित्र की बहन-बेटी को अपनी बहन-बेटी समझेगा, किसीको धोखे से भी एक बार बहन कहकर आजन्म उस रिश्ते की मर्यादा रख लेगा। लेकिन

एक मुसलमान ? उसका क्या एतबार जब कि उसके मज़हब में सभी चचाजाद बहन तक हलाल बताई गई हो। मज़हर अपनी लड़कियों की ज़िन्दगी शहज़ादी की तरह बनती नहीं देखना चाहते थे; इसलिये उन्होंने शमशाद और मरियम को अपने क़रीब से क़रीब के रिश्तेदारों से भी अलग कर रखा था, यहाँ तक कि मज़हर के भाई नौशाद और नौशाद के लड़के तक उन लड़कियों से कभी भी मज़हर की गैरमौजूदगी में नहीं मिल सकते थे।

ज़माने की ख़ूबी—हिन्दुस्तान में आजकल लड़की ग्यारह-बारह वर्ष की हुई नहीं कि वह बिना पर के उड़ने लगती है। और फिर उस काल में, जब शरीर को ठीक से भोजन भी न मिले जो कहा जाय कि रोटियाँ लगी हैं ? फिर शमशाद तो अब उन्नीस के पार हो रही थी। क्या वह दुनिया को देखती न होगी, सुनती न होगी ? अकेले में बैठकर कुछ सोचती न होगी ? सपनों में रोज़ नई-नई तस्वीरें न खींचती होगी ? मज़हर जब दफ़्तर चले जाते होंगे तो क्या वह उनकी अल्मारी खोलकर, उथल-पुथलकर देखती न होगी ? क्या अख़बारों में लिपटी हुई वह तस्वीरें उसने न देखी होंगी—ख़्वाबे नाज़ में खोई हुई शहज़ादी और उसके ऊपर एक प्यार चुराने के लिये झुके हुए पैंतीस-छत्तीस वर्ष के मज़हर; दरिया के किनारे हरी-हरी घास पर बैठे हुए मज़हर, और उनकी गोद में लेटी हुई बुलबुल दीदी; राजा सलीमपुर के खास कमरे के लिये ख़ास तौर से बनाये हुए कुछ 'ऐन' मुहब्बताना जोड़ों के चित्र, किसी अमृतसरी कोकशास्त्र पुस्तक के लिये तैयार किये हुए चौरासी आसन; और न जाने क्या-क्या। शमशाद जब इन तस्वीरों को देखती होगी, तो क्या उसके दिल में जवानी और मुहब्बत के तूफ़ान न उठते

होंगे, उसका जी न चाहता होगा कि वह भी किसी नवजवान की गोद में लेटकर, उसकी बाहों में अपना जिस्म तोड़कर देखे कि यह सारा लुत्फ़ है क्या ? और मरियम समझदारी में शमशाद से क्या कुछ कम थी ?

और मज़हर ! मज़हर ने एक जवान अन्ना* नौकर रखी थी, जिसने इन लड़कियों को उनकी मासूमियत में सम्हाला था। शमशाद जब १२ साल की हुई थी, तब तक वह रही। वह घर का सारा काम-धन्धा सम्हालती, खाना बनाती, खिलाती-पिलाती और फिर रात में अपने घर चली जाती। नौ-दस बजे तक मज़हर दोनों लड़कियों को लेकर बिस्तर पर लेट जाते, थपकियाँ देते, 'आरी निंदिया, आरी निंदिया, बिटिया जोहे बाट तेरी'—और कभी-कभी रात में ग्यारह-बारह बजे के क़रीब जो शमशाद की आँख खुल जाती, तो वह देखती, मज़हर उसके पास नहीं हैं। उठकर इधर-उधर ताकती, फिर लम्प की बत्ती तेज़ करके देखती—उसके अब्बाजान दूसरे पलंग पर अन्ना को लिये सो रहे हैं। अन्ना नंगी पड़ी है, अब्बा नंगे पड़े हैं। जब वह अन्ना नौकरी छोड़कर चली गई तो मज़हर ने दूसरी अन्ना रखी। मज़हर ढूँढ़-ढूँढ़कर ख़ूबसूरत बलाएँ लाते थे। कलाकार थे न ?

लेकिन अब लड़कियाँ जवान हो रही थीं, समझदार हो रही थीं, मज़हर अब यह काम छिपे-छिपे करते, लड़कियों को चकमा दिखाते। अन्ना रात में दस बजे तक खाना बनाकर सामने के ज़ीने से चली जाती, मज़हर पिछवाड़े के ज़ीने से मसजिद में उतर जाते और......शमशाद व मरियम यह सब समझती

---

*रसोइन

थीं। बचपन में देखी हुई सारी बातें उनको याद थीं, वह अपने अब्बा के रग-रग से वाक़िफ़ थीं। तीन-चार साल की उम्र से देखी हुई घटनाओं के प्रभाव, उमड़ती हुई जवानी के तूफ़ान, और नौजवान लड़की के दिल में उमड़ते-घुमड़ते हुये, किसी भी नवजवान लड़के पर टूटकर बरस पड़ने वाले मुहब्बत के बादल—यह सब जब मिल गये तो इनकी ताक़त के आगे क़ुरान व हदीस, रोजा व नमाज, आदर्श और चरित्र के सारे पाठ एक फूँक में उड़ सकते थे मगर—

मगर मज़हर की नेकियों ने उसका साथ दिया। मज़हर अपनी आँखों के आगे अपनी लड़कियों को शहज़ादी के रास्ते पर चलते नहीं देखना चाहते थे, और अल्लाह का शुक्र, उनकी ख़्वाहिश पूरी हुई। वह अचानक बीमार पड़े, पेट फूल गया, पेशाब बन्द हो गया, और एक अजीब क़िस्म की बेहोशी उन पर छा गई। दस-बारह दिन घर पर रहे, दस-बारह दिन अस्पताल में। और एक सुबह, जब कि पूरब में, नदी के उस पार, एक टूटी हुई मसजिद के पीछे से, सोई हुई दुनिया को जगाती हुई सूर्य की सुनहली किरणें उठकर फैल रही थीं, मज़हर ने रुँधे गले से दो-तीन बार "ख़ुदा हाफिज़" कहकर काँपते हाथों से मेरे हाथों को पकड़ा, दो-तीन बार हिलाया, और फिर छोड़ दिया, हमेशा के लिये, मैं न बोल सका, न रो सका। आँखों में आसू की दो बूँदें दिल का ज्वारभाटा रोके थीं।

× × ×

न जाने किसने खबर दी या किस तरह ख़बर पहुँच गई, मज़हर के मरने के तीन दिन बाद ही उनकी बीबी, शहज़ादी, बम्बई से आ पहुँचीं और मज़हर के घर पर जम गईं। ज़बान की तो इतनी तेज़ थीं कि अल्लाह अल्लाह! आते ही घर भर पर

क़ब्ज़ा जमा लिया। मज़हर के भाई नौशाद, जिनके यहाँ मज़हर के इन्तक़ाल के बाद शमशाद व मरियम चली गई थीं, और जो मज़हर के तीजा-चालीसा का इन्तज़ाम कर रहे थे, पूँछ दबाकर अपने घर में बैठ रहे। बेगम हाथ नचा-नचाकर कहतीं, "हाय अल्लाह, मेरे मरदुए की कमाई सब उड़ाये डालते हैं। भड़ुए समझते थे कि शहज़ादी मर गई। मज़े से लूटो-खाओ और फिर लड़कियों को दो धक्के देकर निकाल बाहर करो। मेरे जीते जी कोई उनके पैसे में हाथ तक तो लगा जाय? मैं उनकी वारिश हूँ, मेरा मेहर अभी नहीं मिला। मैं चाहे स्याह करूँ चाहे सफ़ेद, कोई बोलने वाला कौन होता है?"

किसी भी शरीफ़ आदमी की हिम्मत न पड़ी कि उनके मुँह लगे। उन्होंने जो करना चाहा करने दिया गया, क्योंकि शहज़ादी की ज़ात से सारा लखनऊ वाक़िफ़ था। शमशाद और मरियम दोनों को शहज़ादी बुला लाईं और अपने साथ रखने लगीं। जब इन लड़कियों ने मुझे कई बार बुलवा भेजा तब कहीं मैं गया; डरता-डरता, क्योंकि शहज़ादी से मैं भी घबराता था। मेरे पहुँचने के बाद, कमरे के दरवाज़े के पास कुर्सी पर मेरी तशरीफ़ जम जाने के बाद पान देने के लिये चिक के बाहर हाथ बढ़ाते हुए बेगम शहज़ादी ने अपना चरखा शुरू किया, " ऐहै साहब, मज़हर मर गये तो क्या मैं भी मर गई? मुझसे कौन-सी ख़ता हुई जो आप अभी तक न आये। आप मज़हर के इतने बड़े दोस्त थे, आपको तो अपने आप आना चाहिये था?—हाँ, तो आपकी मज़हर से कब से जान-पहचान हुई, यह कब के मदासमात हैं आख़िर? जब मैं यहाँ रहती थी तब तो आपकी हवा तक न थी। मेरे जाने के बाद, अल्लाह बख़्शे, उस मज़हर ने न जाने कितने लौंडों से दोस्ती पाली

होगी। आप जानते होंगे, अजी अनजाने न बनिये, उसे बड़े-बड़े शौक़ थे......"

मैंने सोचा नीच के मुँह कौन लगे। उठकर चला आया और शमशाद व मरियम से कह आया कि उन्हें जब किसी काम की जरूरत हो ख़बर भिजवा दें या ख़ुद चली आयें। मैं उनके यहाँ नहीं आ सकता, उनकी माँ से बात नहीं करना चाहता, उनकी सूरत तक नहीं देखना चाहता। मैं समझ गया था—एक हफ़्ते के अन्दर माँ की नमकीन चिरपिरी गुफ़्तगू, अय्याशी की गंध से भरे शब्दों व रंगीन कुभावनाओं ने इन दोनों लड़कियों पर जितना अधिकार जमा लिया था वह मैं तीन वर्ष तक अपने आदर्शवाद से भी न क़ायम कर पाया था।

तीजा-चालीसा* ख़त्म होने और इद्दत† का स्वाँग पूरा उतार देने के बाद शहज़ादी ने मज़हर की क़ीमती से क़ीमती तस्वीरें टके मोल बेच डालीं। मज़हर के दो मकान थे। शहज़ादी ने एक मकान बेच डाला और शमशाद व मरियम को लेकर बम्बई चली गईं, वहाँ साल भर तक इन लड़कियों की बदौलत ख़ूब रिश्तेदारियाँ क़ायम की गईं। आख़िर एक से शमशाद का लम्बा ताअल्लुक़ बैठ गया, पेट रह गया। वह "तअल्लुक़ेदार" आज शादी कर लूँगा, और कल निकाह पढ़ लूँगा, और बच्चा

---

*हिन्दुओं के दसवीं-तेरहीं की तरह मुसलमानों में तीजा-चालीसा होता है।

†मुसलमानों में शौहर की मृत्यु के बाद या तलाक़ के बाद स्त्री के कुछ दिनों के लिये पुरुष संपर्क से अलग रहना होता है, उस समय को इद्दत कहते हैं।

होने के बाद निकाह हो जायगा करते ही रहे, शहज़ादी को झाँसा-पट्टी देते रहे। वक्त पूरा होने पर शमशाद के एक सुन्दर-सा बच्चा पैदा हुआ, लेकिन आँख खोलकर उसको देख सकने के पहिले ही शमशाद चल बसी। कुछ घण्टों बाद वह बच्चा भी मर गया।

और मरियम? मरियम को लेकर बेगम साहिबा लखनऊ तशरीफ़ वापस लाईं और बिल्लोचपुरा वाले मकान में ठहरीं। आसामी फँसना शुरू हुए। मरियम की शादी न करने का बेगम साहिबा ने फ़ैसला कर लिया था, क्योंकि शादी करके एक लड़की को वह खो चुकी थीं। शहज़ादी के यहाँ हड़िया तवा के अलावा और कुछ सामान न था, पर वह अपने को किसी रईसज़ादी से कम न समझती थीं। नवाब अग़गान शहज़ादी की जूती पर नाक रगड़ते थे कि मरियम से ब्याह कर दो; राजा पीरपुर के बहनोई अपना तअल्लुक़ा लिखने के लिये तैयार थे, बस मरियम की सूरत पर निछावर थी यह जायदाद; चीफ़ कोर्ट के चीफ़ जज सर सिकन्दर अहमद खाँ का लड़का रोता फिरता था, गलियों में, मरियम के लिये। कहता था, मजनू बन जायगा, जान दे देगा।—सुनते-सुनते कान पक गये थे मेरे। मगर शुक्र खुदा का, एक रोज़ मुद्दत की इन्तहा की इब्तदा सुन ली। अख़बार में पढ़ लिया—'ख़बर है कि जनाब मुहम्मद मजहर साहब मरहूम, मशहूर मुसव्विर की बीबी शहज़ादी बेगम को उनके मकान में किसी ने क़त्ल कर दिया। उनकी लाश कुएँ से बरामद हुई और उनकी लड़की मरियम खातून घर से ग़ायब हैं। उनका कुछ पता नहीं चलता। पुलिस तहक़ीक़ात कर रही है।' मुझे लगा, जैसे आसमान हँसकर कह रहा है 'तहक़ीक़ात हो रही है।'

मजहर आज मरकर भी जिन्दा हैं। लोग अब भी उनकी

याद कर लिया करते हैं। उनके बारे में हँसकर, रोकर दो-दो बातें कह-सुन लेते हैं—बेचारे बड़े नेक थे, धर्मात्मा थे। कभी किसी के साथ कोई बुराई नहीं की, हमेशा दूसरों की मदद को तैयार रहे। उनकी बीबी हरामजादी निकली, उनकी लड़कियों ने........मगर...अगर—छोड़िये भी इस अगर मगर को। दिल को तकलीफ़ देने वाली बातें हैं।

७

उस दिन सेठ नगीनदास की लड़की की वर्षगाँठ थी और बड़े समारोह से उत्सव मनाया गया था। कोठी के बीच वाले हाल में महफ़िल जमा थी। केसरी हाव-भाव बता-बताकर ठुमरी गा रही थी, 'गोरी तोरे नैनवा काजर बिन कारे' और राय साहब बार-बार गिरी मूछों को उठाने का प्रयत्न करते हुए, भोले बच्चों और ललचहे जवानों—सबसे आगे बैठे हुए शराब के नशे में झूम-झूमकर प्रशंसा कर रहे थे—'अय जियो, क्या भाव हैं, वाह! हाँ, क्या कह रहे हैं तोरे नैनवा? तनिक भौं मटकाकर तो कहो! भई नगीनदास, किस कुएँ से यह मछली फँसाकर लाये हो? हाय-हाय तोरे नैनवा!' नगीनदास ने इशारा किया और केसरी राय साहब की रेशमी अचकन का छोर पकड़कर बैठ गई।

राय साहब सेठ नगीनदास के पुराने साथियों में से थे और निमंत्रण पाकर इलाहाबाद आये हुए थे। नगीनदास के यहाँ ही ठहरे थे। आयु होगी लगभग ४५ वर्ष की, शराब उनकी जिन्दगी की एक जरूरी-सी शय बनकर रह गई थी। वेश्याओं के पीछे तो वह इतने पागल रहते कि उचित-अनुचित का कोई

ध्यान ही न रह गया था। राय साहब की जरूरत से ज्यादा आशिक़ मिज़ाजी से ऊबकर केसरी ने जो दो-चार उल्टी-सीधी बातें सुना दीं, तो उन्होंने झट शायरी की आड़ ली और बोले, 'आय-हाय, तुमको आता है प्यार पर गुस्सा; मुझको गुस्से पे प्यार आता है।'

महफ़िल जब खत्म हुई तो केसरी को एकान्त में बुलाकर उसके हाथ पर रुपये रखते हुए राय साहब बोले, 'कल रात को तुम्हारे यहाँ आऊँगा तब ज़रा इतमीनान से सुनूँगा।' और केसरी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, 'जिस वक्त जी चाहे आइये राय साहब, हम तो आपके ताबेदार हैं।'

× × ×

केसरी शराब बेहद पीती थी। और जब उस पर नशा सवार होता तो उसकी ज़बान किसी प्रकार भी रोके न रुकती। वह अपने चाहने वालों को बजाय प्रेम के गालियाँ पिलाने लगती। उसके विचित्र व्यवहार को देखकर लोग आश्चर्य में पड़ जाते। जब उसका दिमाग़ बिगड़ा होता और कोई शौक़ीन रईस कहता—सौ ले लो, दो सौ ले लो, तो वह चिढ़कर उत्तर देती, 'तुम खुद मुझसे हज़ार ले लो और अपने घर जाकर अपनी माँ-बहनों से अपनी प्यास बुझा आओ।' उसके जाँनिसार फुसफुसाते हुए चले जाते कि 'देखा उस रण्डी की बच्ची को ? एक बार तो कैसे भौं मटका-मटकाकर गले लटकती है और दूसरी बार कहती है तुम्हारे माँ-बहन नहीं हैं क्या ?' केसरी की आँखें थीं मतवाली, पर उनमें से अमीरी व ऐश्वर्य के हज़ार नशे झलकते होने पर भी कुछ न कुछ अभाव अवश्य टपकता था, अजीब व्यवहार था उसका, अजीब बातें थीं उसकी, अजीब सनक थी उसकी। कभी-कभी वह अड़ जाती कि गायेगी ही

नहीं। लोग उसकी खुशामद करने लगते तो बुरी तरह गालियाँ सुना चलती। परन्तु वेश्या के उपासक तो इन्सल्ट-प्रूफ हो जाते हैं न ? और फिर केसरी ऐसी सुन्दर वेश्या की गालियाँ ? उसके उपासकों को उसकी गालियों में भी प्यार नज़र आता।

केसरी के यहाँ आया करता था एक नवजवान छोकरा—नामदेव नाम था उसका। केसरी की आँखें जब उसकी आँखों से मिलतीं तो वह अपने को बेबस पाती। केसरी के ऊपर उसका प्रभाव बढ़ता चला जा रहा था। केसरी उससे जितना ही अलग होना चाहती, उतना ही वह उसे अपनी बातों से लिपटाता चला जाता। जब केसरी उससे उलझने लगती, तो वह मुस्कराने लगता और एक शब्द में ही केसरी का सारा क्रोध ठण्ढा कर देता। केसरी की माँ, जब वह जीवित थी, केसरी से बराबर कहा करती थी कि वह नामदेव के चक्कर में न पड़े। पर उसकी माँ के मरते ही नामदेव ने केसरी पर अपना बहुत कुछ अधिकार जमा लिया। उसकी बातों के आगे केसरी का अपने ऊपर से विश्वास हिल जाता।

आँखों में आँखें डालकर, दिल में उतरकर वहाँ की दुनिया का तमाशा देखना यदि किसीको नहीं आया, तो वह उस्ताद तमाशाई नहीं; मनुष्य के हृदय को दुर्बल बनाने वाली भावनाओं को पकड़कर ऐंठना यदि किसी ने नहीं जाना, तो वह कुशल खिलाड़ी नहीं; भावुकता की जंजीरों में जकड़े हुए मूर्ख को जंजीरें तोड़कर आगे पैर बढ़ाने के लिये यदि तैयार नहीं किया जा सकता, तो शब्दों में जान नहीं, तर्क में तत्त्व नहीं। यदि किसीकी आँखों में, शब्दों में, तर्क में ऐसी शक्ति है तो एक केसरी तो क्या, हज़ार केसरियों की दुनिया ग़रीब की गुदड़ी की तरह उधड़ी हुई सामने पड़ी दिखेगी। उनकी जीवनियों में लोग चाहे रोमांचकारी प्रेम

कथानक ढूँढ़ लें, चाहे समाज के अन्तःकरण में धधकती हुई भीषण ज्वाला; चार पैसे फेंककर चाहे एक चुम्बन खरीद लें, चाहे मनुष्य के जीवन का एक नग्न चित्र देख लें, जिसको देखकर क्यों और कैसे से उलझना-सुलझना आरम्भ हो जाता है।

एक दिन शराब के नशे में वह कुछ ग्राहकों से उलझकर बैठी हुई ही थी कि नामदेव आ पहुँचा। उसे देखते ही केसरी ने अपनी बकवाद शुरू की ही थी कि नामदेव ने अल्मारी से बोतल निकालकर उसके सामने रख दी और बोला, 'लो थोड़ी और पियो, तुम्हें हमारे सिर की क़सम!'

वह केसरी का स्वभाव ख़ूब जानता था, ख़ूब समझता था। केसरी ने शराब उड़ेली और चढ़ा गई। थोड़ी बहकी। दूसरी ख़ूराक पी, थोड़ी खुली। तीसरी ख़ूराक में वह बह चली, कह चली अपनी बात—वही जिसको जानने के लिये नामदेव हज़ार प्रयत्न कर चुका था। उसकी आँखें उसे चुपचाप विश्वास, सहानुभूति, स्नेह देकर उसे मजबूर कर रही थीं कि वह कहे, उसे कहना पड़ रहा था। और जब नशे में झोंके खाती हुई केसरी नामदेव के पल्ले पड़ जाय? नामदेव ने शब्दों की चोटें आरम्भ कीं, और केसरी तिलमिला उठी। नामदेव केसरी के बारे में जो जानना चाहता था वह जान गया। जिस गुत्थी को सुलझाने के लिये उसने मुद्दत से केसरी को घेर रखा था, वह उसने सुलझा ली।

× × —

क़रीब अठारह वर्ष पहले की बात थी। केसरी की माँ शिवकुँअर, असली नाम था शीला, फ़ैज़ाबाद में ब्याही थी। अठारह वर्ष की थी वह, और ब्याह हुए अभी वर्ष भर ही हुआ था। उसके पति मानिकचन्द अधिक पढ़े-लिखे तो थे नहीं, पर

घर के रईस थे। सदर में जेनरल मर्चेंट की दूकान थी जिसे मानिकचन्द सम्हालते थे और चौक में कपड़े की दूकान की देख-भाल उनके पिता लाला मेहरचन्द के जिम्मे थी। महाजनी टोला में जैन मन्दिर के सामने दोमंजिली कोठी में यह सारा परिवार रहता था। परिवार के अन्य लोगों में थीं मानिकचन्द की माँ व मानिकचन्द की छोटी बहन ललिता। सारा कुटुम्ब उस हवा के बीच पला था जिसमें 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...' आदि निरर्थक शब्द समझे जाते थे। अपनी बात पर उठी आलोचनाओं को सुनकर चुप रह जाने वाले मूर्खों में वह लोग अपने को नहीं गिनते थे। अपनी-अपनी अक़्ल का डंका पीटना सभी जानते थे। स्त्री बचपन में माँ-बाप की आज्ञा पर चलती है, यौवन में पति के संरक्षण में रहती है और बुढ़ापे में उसे अपने बेटों के आसरे रहना पड़ता है। स्त्री सदैव की ग़ुलाम है; उसे आजाद रहने के लिये ईश्वर ने बनाया ही नहीं है—यह उस कुटुम्ब का विश्वास था। इसके साथ ही कुछ अन्य बातें जो सास-बहू, नन्द-भौजाई के नातों से लटकी हुई शताब्दियों से चली आई थीं, बहू का काम है घर में रहने वाले सब लोगों के बाद सोना, सबसे पहले जागना, घर का सारा काम-काज अकेले करना; सास-नन्द की उल्टी-सीधी सभी प्रकार की बातों को सुनना, सहन करना, फिर भी उनके चरण छूते रहना। नन्द चाहे दूध पीती बच्ची ही क्यों न हो, पर उसका 'दरजा' भावज से ऊँचा होता है। उसे भी सास के बराबर बकवाद करने का, गालियाँ बकने का अधिकार रहता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि बहू की भत्सना बहू की किसी त्रुटि पर ही की जाय। बहू की भर्त्सना करना सास-नन्द का जन्म-सिद्ध अधिकार है। अस्तु जो भी हो, वह अधिकार काम में लाया ही जाना चाहिये नहीं तो जिस

प्रकार बहुत समय तक न बरता गया रिवाज रिवाज नहीं रहता, उसी तरह बहुत काल तक प्रयोग में न लाया गया अधिकार अधिकार नहीं रहता। शीला नई-नई ब्याह कर आई थी। सुबह पाँच बजे से रात के ग्यारह बजे तक बेचारी को काम-धन्धे से फ़ुरसत न मिलती। ले-देकर घर में एक बहू जो आई, तो सास-नन्द सभी की कमर में दर्द शुरू हो गया। सिवाय पड़े रहने के या डाँट-डपट करने के किसी को और कोई काम ही न था। जब कभी थोड़ी देर के लिये शीला खाली बैठी दिखती, तो उसकी सास पैर फैलाकर काँखने लगती। शीला पूछती, "अम्माजी, कैसी तबियत है?" और उसकी सास चिल्ला पड़ती, 'हरामजादी देख रही है कि टाँगें दर्द कर रही हैं! यह तो नहीं होता कि दाब दे, पूछती है अम्माजी, कैसी तबियत है?' शीला उठकर पैर दाबने लग जाती। इतने पर भी बेचारी को गालियाँ ही मिलतीं। उसको गालियाँ दी जातीं, उसकी माँ को गालियाँ दी जातीं जिसने उसे शऊर तक नहीं सिखाया, सास-ससुर की सेवा करना नहीं सिखाया; उसके बाप को गालियाँ दी जातीं जिसने चालीस के बदले बीस ही बहँडोरे विवाह में दीं।

शीला के पास एक पैसा भी न रहता। दूकानों की आमदनी का जो कुछ भी पैसा आता वह उसकी सास के हाथ पर रखा जाता। उसे कभी किसी वस्तु की आवश्यकता होती, या कोई वस्तु लेने की तबियत चलती तो मन मसोसकर रह जाती, पर सास से पैसा माँगने की हिम्मत न पड़ती। मानिकचन्द सब जानते थे, समझते थे, पर वह सपूत थे न? माँ से छिपाकर, अथवा उनकी इच्छा के विरुद्ध वह अपनी स्त्री का मन कैसे रख सकते थे? शीला उनके आगे रोती, अपने कष्ट बताती, ऊँच-नीच सभी कुछ समझाती, पर मानिकचन्द पर कोई प्रभाव न पड़ता।

माता-पिता की ओर कर्तव्य निबाहने वाले उस पुत्र के सम्मुख स्त्री की ओर कोई कर्तव्य होने की बात ही न उठती थी। रात में दूकान से लौटकर मानिकचन्द और उनके पिता आते, तो बहू के विरुद्ध शिकायतों का पिटारा खुल जाता। वह सिर नीचे झुकाकर बैठती तो कहा जाता 'बहू को सीधे बैठना नहीं आता।' यदि वह सीधी बैठती तो कहा जाता 'कैसी तनकर बैठी है?' शीला अपनी नन्द ललिता से कुछ सहानुभूति की आशा करती तो वह चुपके से कभी दूध में नमक डालकर, कभी आटे की मटकी में चावल बिखेरकर कहती, 'भाभी कितनी फूहड़ है। इसकी माँ ने इसे कुछ न सिखाया।' इन अकारण लांछनों व अत्याचारों से ऊबकर कभी-कभी जो शीला जवाब दे बैठती, तो घर भर में कोहराम मच जाता और बढ़ते-बढ़ते शीला पर मानिकचन्द का हाथ भी छूटने लगा। उस परिवार में शीला न बहू थी, न स्त्री ही। वह केवल एक 'मादा' थी जो बस इसलिये ब्याह कर लाई गई थी कि एक नर के लिये एक मादा होना आवश्यक था; एक मादा, जो किसी भी समय नर की तृप्ति के लिये इच्छा होते ही पकड़ी जा सके।

× × ×

हिन्दू धर्म, संस्कृति, सभ्यता, आदर्श और कर्तव्य को निबाहने वाली पतिव्रता स्त्री को इतने पर भी सन्तोष हो जाता, पर एक बात और थी जो शीला के हृदय में चिता की तरह सुलगा करती थी। स्त्री को पति के सारे अत्याचार सहने की शक्ति हो सकती है। पति को ईश्वर समझकर, उसकी उल्टी समझ को भी समझ में न आ सकने वाली 'माया' मानी जा सकती है। परन्तु अपने पति को किसी अन्य स्त्री के साथ देखकर जो क्षोभ, विषाद और ग्लानि से सम्पुटित विद्रोहात्मक

भाव पैदा होते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता। मनुष्य की स्वाभाविक भावनाओं को न कोई धर्म, आदर्श, कर्तव्य का पाठ कभी रोक सका है, न रोक सकेगा। फिर शीला ऐसी स्त्री को यह क्योंकर सहनीय हो सकता था कि उसकी तमाम सेवाओं व बलिदानों के होते हुए भी उसका पति दूसरी स्त्री के पास जाय? जाना तो दूर किनार, उसीकी आँखों के सामने दूसरी स्त्री को गले लगाये?

पर यह बात कुछ मानिकचन्द तक ही सीमित न थी। उनके पिता पुराने अय्याशों में से थे जिनके पास स्थायी तौर से एक वेश्या होना रईसी और बड़प्पन की सनद समझी जाती थी। मानिकचन्द के पिता शीरीं नाम की एक वेश्या पर जी-जान से फिदा थे। दूकान से लौटते समय उसके यहाँ पैर जरूर फेर लेते थे। यह दूसरी बात है, कभी वहाँ दस मिनट ही टिके तो कभी पूरी रात भी वहाँ गुजार दी। मगर रसिकता ज्यों-ज्यों बूढ़ी होती जाती है, त्यों-त्यों जवानी से और भी अधिक चिपटती जाती है। फिर लाला मेहरचन्द तो अभी बूढ़े भी न हुए थे, केवल पचास वर्ष की आयु थी, बस। दूकान का अधिक नफ़ा शीरीं की पूजा में स्वाहा हो जाता था। उनके लिये दुनिया में दो चीजें रह गई थीं—शीरीं और शराब। शीरीं के यहाँ से जब वह घर लौटकर आते और उनके सामने भोजन का थाल रखती हुई मानिकचन्द की माँ पूछतीं कि इतनी रात कहाँ लगा दी, तो लाला मेहरचन्द शीरीं की प्रशंसा कर चलते—'अरे तुम क्या जानो! आज शीरीं ने वह बढ़िया गज़ल सुनाई कि क्या नहीं कहना। वाह, क्या गला पाया है उसने?' और मानिक की माँ शीरीं को गालियाँ दे चलतीं। लालाजी पर उन गालियों का कोई प्रभाव न पड़ता।

परन्तु संसार के तमाम चमत्कारों में एक चमत्कार भारतीय नारी की विलक्षण मनोवृत्ति भी तो है, जब वह स्वयं पति के तमाम दुर्गुणों को जानती हुई दूसरों के मुँह से उनकी आलोचना सुनकर झट लड़ने पर आमादा हो जाती है और तर्क द्वारा हर प्रकार अपने पति की बुराइयों को भी अच्छाइयाँ सिद्ध करने लगती है। शीला जब कभी अपने ससुर के बुढ़ापे और वेश्या-प्रेम के असंगत सम्बन्ध पर जबान हिलाती तो उसकी सास तीखी आवाज़ में सुना चलती—'रण्डी रखने के लिये हाथ भर का कलेजा चाहिये, जेब में रक़म चाहिये। जिसमें बूता होता है वह एक औरत तो क्या, हज़ार औरतें रखता है, तेरे बाप तो रख के देखें एक रण्डी ?' फिर यदि मानिकचन्द भी बाप के पैरों पर चलकर रईसी और आशिक़-मिज़ाजी में पुरखों की नाक ऊँची रखना चाहते थे, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात ? और कार्यों में छब्बीस-सत्ताइस वर्ष का नवयुवक भले 'लड़का' हो, पर वेश्या के आगे रीझने-रिझाने के लिये तो वह अपने बाप से कहीं उपयुक्त होता ही है। बाप शीरीं की प्रशंसा के पुल बाँधा करता था, बेटा चन्दा पर जान देता। बाप उधर अपनी दूकान से बढ़िया साड़ियाँ लेकर शीरीं पर प्यार बघारने चलते, इधर बेटा लवेण्डर, स्नो और पाउडर चन्दा पर उड़ेला करता। वह शीरीं से कहते 'ठुमरी सुनाओ', और यह चन्दा से 'फिलिम' के गाने सुनते। मेहरचन्द ढालते 'ठर्रा', तो मानिकचन्द चढ़ाते 'व्हाइट-हार्स'।

× × ×

लेकिन ललिता के तिलक में जब मानिकचन्द की चन्दा और उनके पिता की शीरीं मुजरा करने आईं, तो उनका आदर-सत्कार

अन्य लोगों से कहीं अधिक किया गया। मानिकचन्द व उनके पिता को बहुत समय से कोई अवसर कब मिला था जो वह अपनी-अपनी प्रेयसियों को कोठी में बुलाकर उनको अपने एहसान से पूरी तरह लाद सकते। महफ़िल में जब चन्दा का मुजरा समाप्त हुआ तो मानिकचन्द उसे अपने निजी कमरे में लिवा ले गये और उसे अपने पलंग पर बिठाकर शीला से कहा कि वह चन्दा के लिये खाना ले आये। शीला के आग-सी लग गई। उस समय वह अपने आवेश को रोक गई। पर जब वह खाना लेकर आई तो कमरे में घुसते ही देखा—मानिकचन्द चन्दा को गोद में कसे हुए उसके होठों पर धड़ाधड़ प्यार की मोहरें जड़ रहे हैं। शीला के हाथों से थाल गिरकर झनझना उठा। वह उस समय अपने को न रोक सकी और लपककर चन्दा के गाल पर दो-तीन तमाचे जड़ दिये और गालियाँ देती हुई उसे कमरे से बाहर धकेलने लगी। मानिकचन्द आग-बबूला हो उठे। कमरे के कोने से छड़ी उठाकर शीला को मारना शुरू कर दिया और उनका हाथ तब तक नहीं रुका जब तक शीला की चिल्लाहट सुनकर घर में उपस्थित अन्य लोग कमरे में भर न पड़े। शीला का सारा शरीर सूज गया था और वह क़रीब माह भर चारपाई से न उठ सकी।

× × ×

देहाती कहावत है कि घर से जब औरत को निकालना होता है तो कहा जाता है कि भात में नमक क्यों नहीं डाला। शीला के हर काम में दोष निकाला जाता। सास, ससुर, नन्द, पति—सभी उस पर गरम-गरम शब्दों की बौछार करके अपने-अपने कलेजे ठण्ढे किया करते। मानिकचन्द के पिता कुटुम्ब भर के

'बुज़ुर्ग' थे, और हज़ार में नौ सौ निन्यानबे घरों की तरह उस घर में भी आयु ने बुद्धि को ऐसा दबोच रखा था कि क्या मजाल जो कोई 'बुज़ुर्ग' के विरुद्ध ज़बान तक हिला जाय ? बुज़ुर्ग बुरा कर सकता है—मन में ऐसा विचार पैदा होना ही पाप समझा जाता है। बुज़ुर्ग जो कहता है ठीक कहता है, जो करता है ठीक करता है और उसके विरुद्ध कहने या करने वाला हर प्रकार से कुचल दिया जाना चाहिये, यह 'बुज़ुर्ग-रक्षा-क़ानून' है।

एक शाम को घर पर लाला मेहरचन्द शराब में धुत पड़े थे। ललिता से उन्होंने कहा—'बेटी, मेरे पैर बहुत ऐंठ रहे हैं। तनिक दाब तो दो।' ललिता ने उत्तर दिया—'भाभी से दबवा लो न पैर ? मुझे फ़ुरसत नहीं।' और फिर शीला से बोली—'भाभी, लाला के पैर तो दाब दो !' शीला ने इन्कार किया, तो 'क्यों न दाबेगी ? दाबना पड़ेगा तुझे !' कहकर उसकी सास और नन्द उस पर टूट पड़ीं। उसके ससुर के नशे ने जो ज़ोर मारा तो उन्होंने शीला की चोटी पकड़कर उसे आँगन भर में घसीट डाला, पर शीला ने पैर न दाबे, न दाबे। और रात में दूकान से लौटकर जो मानिकचन्द आये तो उनसे ससुर के पैर न दाबने की बात ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर कही गई। परिणाम ? शीला की अच्छी तरह मरम्मत की गई। मानिकचन्द ने शीला के सारे जेवर उतरवा लिये और उसे घर के बाहर निकाल दिया। शीला उस समय बिल्कुल निर्भय हो चुकी थी। उसके पैरों में जकड़ी हुई धर्म और कर्त्तव्य की शृंखलाएँ टूट चुकी थीं। वह निकल गई और अँधेरे में ग़ायब हो गई। जब शीला घर से निकाली गई थी, उसके दो महीने का गर्भ था।

× × ×

शीला कहाँ जा रही थी, इसका कुछ पता नहीं। पर उसके पैर उसे कहीं न कहीं उड़ाये अवश्य लिये जा रहे थे। महाजनी टोला ख़त्म हो गया, बजाजा निकल गया, चौक पार कर चुकी। रीठगंज से गुज़र रही थी और अयोध्या जाने वाली सड़क पर मुड़ी ही थी कि वह किसी से टकरा गई। शीला को गिरने से रोककर वह आश्चर्य से बोला, 'भाभी!' और शीला से इसके अतिरिक्त और कुछ न हो सका कि वह उसके पैरों पर गिरकर, फूट-फूटकर रोने लगे। चलते-फिरते लोग खड़े होकर तमाशा देखने लगे। पर वह था बुद्धिमान। वहाँ बिना अधिक प्रश्न किये उसने शीला को उठाकर ताँगे में बिठाया और उसे लेकर सीधा अपने होटल पहुँचा।

उसका नाम था मणिराम। किसी बीमा कम्पनी का एजेन्ट था। मानिकचन्द और उनके पिता—दोनों के बीमे उसने किये थे। मानिकचन्द से परिचय अधिक बढ़ जाने के कारण वह अक्सर उनके यहाँ आया करता था। शीला से कभी उसकी बातचीत न हुई थी, परन्तु शीला का उससे कोई विशेष परदा भी न था। फिर ललिता के तिलक में शीला के साथ मानिकचन्द के दुर्व्यवहार को भी वह जान गया था पर चुप ही रह गया था। और अचानक शीला को इस प्रकार घर से निकली देखकर वह बहुत कुछ अपने आप समझ गया। होटल में लाकर उसने शीला को शान्त किया, उसकी गाथा सुनी, उसे सान्त्वना दी। उसे समझाया कि यदि मनुष्य में इतना साहस हो सकता है कि संसार के दो-चार प्राणियों से घबराकर, सरयू में डूबकर वह प्राण दे दे, तो अवश्य उसमें वह शक्ति है कि बजाय ऐसी कायरतापूर्ण मृत्यु के वह संसार में जीवित रहकर, ऐसे लोगों से भरपूर बदला लेकर अपना कलेजा ठंढा कर सकता है।

उसने कहा शीला उसकी बहन है; और दूसरे दिन प्रातः समय बहन की सारी ममता अपने कलेजे में बटोरकर और बहन की ओर अपने कर्त्तव्य की भावनाओं से उबलता हुआ मणिराम जब मानिकचन्द की बुद्धि को अपने शब्दों से, अपने तर्क से ठीक करने चला तो हुआ क्या? बीमा कम्पनी का एजेन्ट वाक्पटुता में व शब्दों का जाल बिछाने में दक्ष समझा जाता है, परन्तु शब्दों का प्रभाव तो तभी तक है जब तक सुनने वाले की खोपड़ी में दिमाग हो, गोबर न भरा हो? मणिराम गया तो था सुलह कराने, पर गालियाँ सुनकर वापस हुआ। मानिकचन्द बोले—'मेरी दोस्ती का दम भरकर मेरे ही गले पर छुरी फेरता है? उसका तेरा क्या सम्बन्ध? वह तेरे यहाँ पहुँची कैसे?' मानिकचंद की माँ चिल्लाई—'तभी तो मैं कहती थी कि यह कौन से खसम के दम पर फूलती है?' और लाला मेहरचन्द ने गिरते हुक्के को सम्हालते हुए कहा—'छिनाल, हरामजादी! सारे कुटुम्ब के मुँह में कालिख पोत गई।' रास्ते भर मणिराम सोचता चला आ रहा था कि क्या तमाशा है कि वह शीला का भाई बनकर उसकी ओर से वकालत करने गया और उसका प्रेमी, यार और न जाने क्या-क्या बनाकर वापस किया गया।

मणिराम जानता था कि दुनिया मूर्खता और पागलपन की ओर बढ़ती जा रही है। 'बहुमत' शब्द क्या राजनीति और क्या समाज, हर स्थान पर दिन-रात चिल्लाया जाने लगा है, फिर जब सारे संसार का भाग्य बहुमत पर ही अवलम्बित है तो सौ में निन्यानबे मूर्खों के बहुमत के आगे एक बुद्धिमान् की क्या चल सकती है? और यह तो निश्चय ही है कि सौ में कहीं एक मनुष्य उचित बात समझने, कहने और मानने वाला पैदा होता है। मणिराम इस परिणाम पर पहुँचा कि हिन्दुओं के

हिन्दुस्तान में मूर्खों का अकाल अभी कम से कम दो हजार वर्ष तक नहीं पड़ सकता। और एक पेट से पैदा न होकर भी एक स्त्री और एक पुरुष के बीच बहन-भाई के पवित्र स्नेह का नाता बँध सकता है और निभ सकता है—बहुमत को यह समझा सकने की शक्ति मणिराम को अपने में न दिखी। अतः शीला का कल्याण इसीमें समझा गया कि शीघ्र से शीघ्र उसे उसके मायके पहुँचा दिया जाय और उसका भविष्य उसके माता-पिता पर ही छोड़ दिया जाय।

× × ×

मणिराम शीला को लेकर उसके मायके, बनारस पहुँचा तो, पर उसके पहुँचने के पहले ही मानिकचन्द का एक लम्बा-चौड़ा तार पहुँच चुका था जिसके द्वारा शीला के पिता कल्याणदास को सूचना दी गई थी कि शीला अपने 'यार' के साथ भाग गई। जिस समय शीला अपने पिता कल्याणदास के दरवाजे उतरी, वह आँखों में ख़ून भरे, जबान में आग भरे और हाथों की मुट्ठियाँ कसे हुए चिल्ला रहे थे कि शीला मिल जाय तो उसे मार ही डालें। दरवाजे पर शीला को उतरती हुई देखकर वह एकदम बाहर झपटे। मणिराम को देखकर पूछा—'यह कौन है तेरे साथ ?' और शीला के उत्तर देने के पहले ही मणिराम 'जी···जी, मैं मानिकचन्द का दोस्त···' कहकर पूरा परिचय भी न दे पाया था कि कल्याणदास गालियों की बौछार करते हुए मणिराम का गला पकड़कर उसको पीट चले। धीरे-धीरे दोनों थककर अलग होने वाले ही थे कि मुहल्लेवालों ने, जो उस समय काफी संख्या में इकट्ठे हो गये थे, मणिराम के एक-एक दो-दो तमाचे लगाकर कल्याणदास से मुहल्लेदारी का रिश्ता

और भी पक्का किया और मणिराम को पकड़कर पुलिस के सुपुर्द कर दिया। आप पूछेंगे, 'औरत भगाई थी तो औरत के बाप के पास लेकर क्यों पहुँचा ? शीला का मुँह क्या बन्द हो गया था ?' मैं कहूँगा—आप कोरे काल्पनिक हैं, अनुभवहीन हैं, बड़े भोले हैं, बिना सींग और खुर की गाय की तरह सीधे हैं और जिस सरजमीन पर आप अपना बिस्तर बिछाये हैं उसके बारे में खाक भी नहीं जानते। इन बातों को पूछने का सवाल तो तब पेश होता है जब महीनों की तफ़तीश और तहक़ीक़ात के दौरान पुलिस की हिरासत में सड़ने के बाद (और ऐसी जगह जहाँ जमानत देने वाला तो दूर रहा, कोई जानने वाला भी न हो) मणिराम का मामला अदालत में पेश हो, अच्छी पैरवी हो, अच्छे गवाह हों, अच्छा वकील हो और मजिस्ट्रेट की खोपड़ी में गोबर न भरा हो।

घर के बाहर तो हुआ यह, और घर के भीतर हुआ वही, जो ऐसे अवसरों पर अक्सर होता आया है। मनुष्य जब क्रोध में होता है तो पागलों के-से काम करता है। वह दूसरों की बात सुनता ही नहीं है, सुनना ही नहीं चाहता। बस अपनी बुद्धि और विश्वास के सहारे उछला-कूदा करता है। शीला के पिता के ख़ानदान की जो नाक कट गई थी, उसको फिर से जोड़ने के लिये शीला की अच्छी तरह मरम्मत की गई। कमरे में बन्द करके इस बेरहमी के साथ उसे मारा गया कि अलमारी में रखे पत्थर के महादेव की आँखों से भी शायद दो बूँद आँसू गिर पड़े हों। पत्थर के देवता शीला की सहायता ही क्या कर सकते थे ?

रात को दो बजे जब शीला को होश आया, तो उसने देखा—अन्धकार, चारों ओर अन्धकार। घर के सब चिराग़ बुझे हुए थे। वह धीरे से उठी, चिराग़ जलाया। अलमारी खोली। उसमें

उसे वह छोटी-सी फोटो रखी हुई दिखी जो विवाह के बाद मानिकचंद ने उसके साथ खिंचवाई थी, केवल आधा हिस्सा। उसने अलमारी में इधर-उधर नज़र दौड़ाई। नीचे के दर में बिखरे हुए कुछ निमंत्रण-पत्र मिले जो उसके विवाह में कल्याणदास ने छपवाये थे। उसने एक निमंत्रण-पत्र उठाया, उस पर आँखें दौड़ाईं, उसकी आँखों से आँसू बह चले। निमंत्रण-पत्र में फोटो को लपेटकर उसे अपने ब्लाउज़ में रख लिया और चिराग़ बुझा दिया। अँधेरे में टटोलती हुई बढ़ी, जीने से नीचे उतरी, धीरे से बाहर का दरवाजा खोला, और चल पड़ी—चलती चली गई।

× × ×

बाप के घर से शीला निकल तो दी थी पर उसे यह नहीं मालूम था कि वह कहाँ जायगी। इतना तो उसने निश्चय कर लिया था कि उसे चाहे जहाँ जाना पड़े, जिस किसी के यहाँ भी शरण लेनी पड़े, जिस प्रकार भी जीवन व्यतीत करना पड़े, पर अब वह इस जीवन में अपने मायके या ससुराल—कहीं भी लौट कर न जायगी। वह ससुराल से ठोकरें मार-मारकर निकाली गई। वहाँ से वह अपने पिता के घर पहुँची, तो उस जगह भी उसके साथ जो व्यवहार हुआ, उसकी स्वप्न में भी आशा न थी। उस पर स्वयं उसके माता-पिता ने विश्वास न किया, उसकी बात तक न सुनी। मनुष्यता का क्या यही बरदान रह गया है कि अपनी ही गाता चला जाय और दूसरे की सुने तक नहीं? और जिसने शीला के दुःखदर्द को समझा, उसे शरण दी, उसकी सहायता की, उसे भी अपमानित होना पड़ा। शीला के हृदय में बिद्रोह की चिता और भी धू-धू करके जलने लगी।

उसने दिल पक्का करके निश्चय किया और एक झटके में मायामोह की सारी शृङ्खलाएँ तोड़ दीं। एक बार वह पति का घर छोड़कर अकेले सड़क पर निकली, तो उसके मन को आशा ही नहीं, विश्वास भी था कि उसके पिता का घर है जहाँ उसे स्थान मिलेगा; उसकी माँ है जिसकी गोद में सिर छुपा कर उसे कुछ शान्ति मिलेगी। परन्तु अब—अब उसने अपने को सड़क के ही सुपुर्द कर दिया। जो ठोकरें मिले वह खाय, और सड़क उसे जहाँ ले जाय, वह जाय। सन्नाटी रात में निर्जन सड़क पर प्रेम और घृणा के जो अनुभव शीला को हुए, वही उसके मार्ग के चिन्ह बन गये। उठती-गिरती, बढ़ती-रुकती, हर जगह प्यार के दो छिछोरे शब्द सुनती हुई, घृणा की चार ठोकरें खाती हुई अँधेरी-उजेली, ऊबड़-खाबड़ गलियों में चक्कर काटती हुई शीला चली।

× × ×

राह में मिलने वाले राहगीरों को, या धर्म के ठेकेदार बनकर बैठे हुए तिलकधारियों को, जिस किसी को भी उस पर कुछ दया आती, तो रूप और जवानी के नाते। शीला को भूखा मरना गवारा था, सारे कष्ट गवारे थे, पर वह अपनी इज़्ज़त नहीं बेच सकती थी। जिन बातों को अन्य लोगों में देखकर वह आलोचना की आग उगलने लगती थी, उन्हीं बातों का वह ख़ुद शिकार हो जाय, यह उसे असहनीय था। लेकिन जब एक स्त्री, अपने सतीत्व को न बेचने का निश्चय करके संसार की छाती पर अपनी मेहनत से जीने के लिये अकेले कूद पड़ती है, तो उसकी राह में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। और फिर जब वह स्त्री सुन्दर हो, जवान हो? इधर-उधर की भटकन में शीला का

जीवन उस गोश्त के टुकड़े की तरह था जो जहाँ पर भी जा गिरता, गिध, चील, कौवे, कुत्ते—सभी उस पर टूट पड़ते।

शीला की मनोदशा बड़ी खराब थी। पिता के घर से निकलकर जो वह चली, तो कुछ शोहदे उसके पीछे लग गये। वह जितना भागती, उतना ही वह पीछा करते। जब बाज़ार निकल गया और शीला एकान्त जगह में पहुँच गई तो उसे घेर लिया गया। वह चिल्लाने लगी, भगवान् की दोहाई देने लगी। भगवान् ने उसकी पुकार सुनी, ज़रूर सुनी और उस समय संयोगवश बाबू रामबिहारी उधर से आ निकले। बाबू रामबिहारी ने उन शोहदों के पंजों से उसे छुड़ाया, और अपने साथ लखनऊ लिवा ले गये।

× × ×

बाबू रामबिहारी स्थानीय महिला आश्रम के प्रधानमन्त्री थे और उनकी जन-सेवाओं के कारण शहर में उनका काफ़ी नाम था। शीला ने सोचा—ईश्वर ने उसे अब ठीक स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ रहकर वह जन-सेवा में अपना जीवन सफल बना सकती है। बाबू रामबिहारी ने शीला का पता-ठिकाना पूछा—परन्तु शीला ने वास्तविकता छिपाकर इधर-उधर का पता बतला दिया। और उसने जो सोचा वह ठीक ही था, क्योंकि सही पता-ठिकाना बता देने पर उसे लाभ तो कुछ नहीं, उल्टे उसके मार्ग में और तमाम बाधाएँ उपस्थित हो सकती थीं। वह अपने मायके या ससुराल तो वापस जाना ही न चाहती थी, फिर अकारण गड़ी बातों को उखाड़ने से लाभ? वह चुपचाप महिला-आश्रम में रहने लगी।

महिला-आश्रम में और भी कई स्त्रियाँ थीं और वह सब

अपने-अपने स्थान पर सुखी दिखती थीं। परन्तु शीला को उनके चाल-ढाल बात-व्यवहार से कुछ अधिक सन्तोष न था। उन सब स्त्रियों के मुखों पर वह गम्भीरता न थी जो घर-बार छोड़कर दर-दर की खाक छानने और मुसीबतें उठाने वाली स्त्रियों में स्वभावतः आ जाती है; वरञ्च उनके हाव-भाव से रसीलापन अधिक टपकता, विशेषकर तब, जब वह बाबू रामबिहारी से बातें करती होतीं।

शीला के मन में शंकाएँ पैदा होने लगीं परन्तु शीघ्र ही उसकी सारी उलझनें सुलझ गईं जब एक दिन अवसर पाकर बाबू रामबिहारी ने शीला को अपने कमरे में बुलाया और कमरे की साँकल भीतर से चढ़ा ली। शीला रोई, गिड़गिड़ाई, छटपटाई। और जब उसने देखा कि परोपकारी मानव के रूप को अलग कर दानव अपने असली रूप में उसके सामने आ गया है, तो इसके अतिरिक्त शीला के पास और कोई उपाय न था कि अपनी रक्षा के लिये मेज पर रखा पीतल का फूलदान उठाकर बाबू रामबिहारी की खोपड़ी पर दे मारे। बाबू रामबिहारी को खूनाखून करके वह वहाँ से निकल भागी। महिला-आश्रम के बारे में उसका विश्वास हिल चुका था और उसका यह विश्वास पक्का होता जा रहा था कि पाप मार्ग में अनुभवहीन भोले-भाले प्राणियों को घसीटकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये मनुष्य ने कैसे सुन्दर-सुन्दर स्वाँग बना रखे हैं।

× × ×

महिला आश्रम से निकलकर शीला सीधी गोमती की ओर चली। उसके हृदय में तूफ़ान था, आँखों में आँसू थे। पूरी पागल तो नहीं, आधी जरूर थी। उसको कोई रास्ता न सूझता

था। उसकी आँखों के आगे अन्धकार ही अन्धकार नजर आता था। वह कहाँ जाय, क्या करे? आत्महत्या? हाँ—जब मनुष्य को जीवन में कोई रुचि नहीं रह जाती, अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते हुए जीवित रहने का कोई मार्ग ही नहीं दिखता तब यही एक मार्ग रह जाता है जिस पर चलकर आत्म-संतोष की आशा-सी बँधती है। जहाँ देखो वहाँ स्त्री के रूप पर, यौवन पर मनुष्य आँख गड़ाये बैठे हैं। सड़क पर से कोई सुन्दर-सी युवती निकली नहीं कि सभी के ज्ञान और कर्म में आग लग जाती है।

पण्डित नीलकण्ठ ने जो शीला को जाते देखा, तो अपनी पान की दूकान छोड़कर झट उसके पीछे लग गये। बाबू रामबिहारी पण्डित नीलकण्ठ के पुराने ग्राहक थे, और जिस दिन शीला महिला आश्रम में आई थी, उसी दिन पण्डित नीलकण्ठ को उसके दर्शन हो चुके थे। थोड़ी दूर आगे निकलकर, जहाँ सड़क की चहल-पहल तनिक कम थी, पण्डित नीलकण्ठ ने शीला को 'बहिनी' कहकर पुकारा। शीला ठिठक गई। उसे आज तक सड़क पर कोई 'बहिनी' कहकर पुकारने वाला न मिला था।

नीलकण्ठ थे बहुत मँजे हुए आदमी; और आदमी को, विशेष कर स्त्रियों को पहचानने में उन्होंने अपने बाल सफ़ेद कर लिये थे। शीला के चेहरे को देखकर वह समझ गये कि हो न हो, महिला-आश्रम में उसके साथ कोई घटना हो गई है। उन्होंने शीला को अपनी सगी बहन बना लेने का कई बार विश्वास दिलाकर उससे उसका हाल पूछा—आश्रम से निकलकर वह कहाँ जा रही है! कहीं बाबू रामबिहारी ने उसके साथ कोई बुरा सलूक़ तो नहीं किया? शीला फूट-फूटकर रोने लगी

और फिर पण्डित नीलकण्ठ उसके कन्धे पर सान्त्वना की थपकियाँ देते हुए बोले—'अरे बहिनी, वह बड़ा नीच आदमी है, मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। न जाने कहाँ-कहाँ से औरतें फुसलाकर ले आता है और महिला आश्रम के नाम पर पेशा कमाता है।' और फिर पण्डित नीलकण्ठ शीला को अपने घर ले चले। कहने लगे—'बहिनी, हम अमीर तो नहीं, ग़रीब आदमी हैं, दूसरों की माँ-बहन को अपनी माँ-बहन समझते हैं। जब तक तुम्हारा और कोई ठिकाना न हो, तुम हमारे यहाँ ही चलकर रहो। हमारी औरत है, बहन है। सब तुम्हारी देख-भाल करेंगी। भगवान् तुम्हारी मदद करेगा।' और शीला पण्डित नीलकण्ठ के घर पहुँच गई।

× × ×

परन्तु एक धूर्त का दूसरे को धूर्त, और अपने को सज्जन कहकर दूसरे के शिकार को हथिया लेना तो कला में शामिल है न? पण्डित नीलकण्ठ ने शीला को जिस मकान में लाकर रखा, वहाँ न नीलकण्ठ की औरत थी, न बहन। वह किशोरी का अड्डा था जहाँ इधर-उधर की भगाई लड़कियाँ आती थीं, और जिनकी दल्लाली के दम पर पण्डित नीलकण्ठ चिकन का कुरता और कढ़ी हुई टोपी पहनकर पान की दूकान पर बैठते थे। किशोरी खुले तौर पर कोई वेश्या न थी और इने-गिने लोगों के अलावा और कोई उसके व्यवसाय को न जानता था। आम तौर से शहरों में तमाम वेश्याएँ एक विशेष मुहल्ले या बाज़ार में अपना अड्डा जमा लेती हैं; वह खुले रूप से वेश्यावृत्ति करती हैं, उनके ज़ीने हर एक के लिये खुले रहते हैं। परन्तु बड़े-बड़े शहरों में कुछ ऐसे अड्डे भी होते हैं जो ज़ाहिरा तो शरीफ़,

गृहस्थ लोगों के घर मालूम होते हैं पर वहाँ भी छिपकर वही काम होता है जो वेश्याओं के यहाँ खुले रूप में। सभ्य समाज में ऐसे अड्डों को 'प्राइवेट-हाउस' कहते हैं। इन जगहों पर अधिकतर भागी अथवा भगाई हुई लड़कियाँ आती हैं जो खुले तौर पर न रह सकती हैं, न रखी जा सकती हैं।

किशोरी चालीस-पैंतालीस वर्ष की अधेड़ औरत थी। लाटूश रोड पर आम सड़क से अलग एक गली में ऊँचा-सा मकान था जिसके नीचे वाले हिस्से में किशोरी का होटल चलता था और ऊपरी हिस्से में वह स्वयं रहती थी। किशोरी का रहन-सहन, उसके घर के ठाट-बाट कुछ ऐसे नहीं थे जिनसे उसके गुप्त व्यवसाय की जरा-सी भी झलक पाई जा सके। किशोरी के साथ किशोरी की छोटी बहन गौरा भी रहती थी जो रेडियो पर गाती थी। इन दोनों के अलावा एक बहुत पुराना नौकर भी था, जो हमेशा हाथ बाँधे किशोरी का हुक्म बजा लाने के लिये खड़ा रहता था। शीला जब आई, तो उसे अपना परिचय देने की कोई आवश्यकता न पड़ी। पण्डित नीलकण्ठ ने अकेले में किशोरी को सब कुछ समझा दिया। शीला की अच्छी तरह खातिर की गई।

शीला को किशोरी के यहाँ तीन दिन भी न बीते थे कि एक शाम को पण्डित नीलकण्ठ दो बाबुओं को लेकर किशोरी के कमरे में आये और किशोरी से उन लोगों की बातें होती रहीं। थोड़ी देर बाद किशोरी ने शीला को उस कमरे में बुलाया। शीला वहाँ चार-पाँच मिनट बैठी रही। उससे कोई बात न कही गई, और फिर उससे अन्दर चले जाने को कहा गया। शीला बड़े चक्कर में थी कि उसे इन लोगों के सामने क्यों बुलाया, क्यों बिठाया, और बिना कुछ कहे-सुने फिर क्यों वापस कर दिया।

उसे कुछ कौतूहल हुआ, और जब वह कमरे के बाहर चली गई, तो दरवाज़े की आड़ में खड़ी होकर सुनने लगी। उसके कानों में पण्डित नीलकण्ठ की आवाज़ सुनाई दी जो पूछ रहे थे—'कहो बाबू, माल तो पसन्द आया?' और बाबू ने उत्तर दिया—'वाह, क्या बढ़िया चीज़ दिखाई है नीलकण्ठ, भाव तो पटाओ!' शीला का माथा घूम गया और वह गिरते-गिरते बची। शायद शीला के बारे में सौदा उस वक्त नहीं पटा और वह तीनों चले गये।

घड़ी में दस बज रहे थे। एक कमरे में, लम्प के धीमे प्रकाश में बैठी हुई शीला सोच रही थी—क्या इस पुण्यभूमि पर कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वह चैन से बैठ सके? जहाँ उसके रूप और जवानी के भूखे पशु न हों? आज तक उसने जिसका हाथ पकड़ा, वही उसे पापमार्ग पर ढकेलने वाला मिला। शीला ने सोचा—अपना चरित्र भ्रष्ट किये बिना वह दुनिया में अपने पैरों पर खड़ी होकर नहीं जी सकती है। वह पढ़ी-लिखी नहीं, कोई हुनर उसमें नहीं, कोई योग्यता उसमें नहीं। उसके पास है ही क्या जिसके द्वारा वह अपना पेट चलाये। और लोग उसकी ओर अकारण दया दिखलायें भी क्यों? उसमें कौन-सी ऐसी विशेषता है, कौन-सा स्वार्थ उसके द्वारा सिद्ध होता है? और यदि लोग चाँदी देकर शीला के रूप, यौवन का आनन्द बदले में लेना चाहते हैं तो... शीला के विचार न जाने उसे कहाँ लिये उड़े जा रहे थे; पर वह चौंक पड़ी। उसके अन्तःकरण ने कहा—'नहीं, नहीं। तुम हिन्दू स्त्री हो, कुलवधू हो। तुम भूखों मर सकती हो, प्राण दे सकती हो, पर इस ओर नहीं जा सकतीं। क्या वेश्या बनोगी?' शीला ने चारों ओर देखा, किशोरी वहाँ नहीं थी। गौरा रेडियो गई हुई थी। शीला के मन ने कहा--

'छोड़ दो इस जगह को, इसी समय छोड़ दो।' वह उठी, और बाहर जाने के लिये जैसे ही दरवाजा खोला, सामने गौरा खड़ी हुई थी, और गौरा के साथ एक और महिला थी, जिनका नाम था—जगरानी।

जगरानी अक्सर रेडियो में गाने के लिये इलाहाबाद से लखनऊ आया करती थी और जब आती, गौरा से अवश्य मिलती। रेडियो पर ही जगरानी का गौरा से परिचय हुआ था और धीरे-धीरे दोनों के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गये थे। उस रात जगरानी को गौरा रेडियो-स्टेशन पर ही मिल गई और गौरा जगरानी को अपने घर लिवा लाई। जगरानी ने शीला को देखा और उसके बारे में कौतूहल पैदा हुआ। लगभग पैंतालीस वर्ष की बूढ़ी जगरानी सङ्गीत में ही कलाकार न थी, वरञ्च मनुष्य को समझने में भी वह एक उस्ताद औरत थी। शीला के विषय में कुछ तो वह गौरा से जान चुकी थी और बहुत कुछ उसने शीला से एकान्त में दो-चार बातें करके जान लिया। जगरानी वेश्या थी तो क्या हुआ, वह मनुष्य का मूल्य समझती थी, और आवश्यकता से अधिक भावुक थी। शीला को उसने स्नेह के जो दो घूँट पिलाये, तो वह फूट पड़ी, रोने लगी। अब तक तो अपना परिचय वह हरएक से छिपाती आई, पर न जाने किन भावनाओं से प्रेरित हो उसने जगरानी के आगे पहली बार अपने जीवन की कहानी कही; अपने सास, ससुर, पति, ननद, माता, पिता, सभी का रोना रो डाला। जगरानी समझ गई, सब समझ गई। जगरानी ने वचन दिया कि वह उसकी रक्षा करेगी, उसे अपनी बेटी की तरह रखेगी और अब उसे कोई कष्ट न होगा, उसे अपनी इच्छाओं तथा भावनाओं के विरुद्ध कोई कार्य न करना होगा।

जगरानी ने किशोरी से कहा कि वह शीला को उसके साथ इलाहाबाद जाने दे, तो किशोरी बिगड़ पड़ी। बिगड़ती क्यों नहीं ? उसका धन्धा जो मारा जाता था। वह बोली—'शीला को यहाँ से कोई भी नहीं ले जा सकता।' और जगरानी ने धमकी दी कि शीला उसके साथ जायगी और उसे कोई नहीं रोक सकता है। मामला बढ़ जाता, परन्तु गौरा बीच में पड़ गई। उसने किशोरी को समझाया कि इस मामले में गम खा जाना ही ठीक है नहीं तो बड़ा उपद्रव मचेगा। किशोरी मान गई और जगरानी शीला को लेकर इलाहाबाद अपने घर आई।

× × ×

जगरानी वेश्या थी, और अमीर वेश्या थी। उसकी आय का साधन अधिकतर सङ्गीत था। और वह उस उम्र को भी तो पार कर चुकी थी जिस पर ललचाई हुई नजरें उलझा-सुलझा करती हैं। जिस स्थान से, जिस स्थान के नाम से शीला घृणा करती थी, वह वहीं पहुँच गई। उसे अपने तक से घृणा होने लगी। उसके मन में विचार उठता कि वह क्यों न जहर खाकर सदैव के लिये सो जाय। वह आखिर क्यों जीवित है, किस लिये, किसके लिये ? पर सबसे बढ़कर विलक्षण बात यह थी वह चाहने पर भी जगरानी की ओर अपने मन में घृणा पैदा नहीं कर पाती थी। मनुष्य का व्यवहार ही मनुष्य के विचार को बदल देता है, चाहे स्थायी रूप से, या अस्थायी रूप से। जगरानी के हृदय को शीला के प्रति किये गये अत्याचारों से बड़ी ठेस लग चुकी थी और उसने एक स्त्री के नाते दूसरी स्त्री पर बीती आपदाओं को समझा। शीला की यातनाओं को सुन-सुनकर जगरानी की आँखों से आँसू बह

चलते। वह शीला की भावनाओं से भली भाँति परिचित हो चुकी थी। शीला को वह अपने से अलग होने नहीं देना चाहती थी, पर रोके भी तो किस तरह ? वह दुनिया देखे हुए थी, और जानती थी कि शीला की राह में काँटे ही काँटे बिछे हुए हैं। वह जहाँ जायगी, उसकी ताक में भेड़िये बैठे होंगे। उसका हृदय पिघल चुका था, और वह शीला को फिर ठोकरें खाने के लिये सड़कों के सुपुर्द नहीं कर सकती थी। फिर शीला भी तो बहुत भुगत चुकी थी; उसका स्वास्थ्य बहुत घट गया था, आँखों के चारों ओर स्याही दौड़ गई थी। और फिर उसके गर्भ जो था। उसका भार दिन-प्रति-दिन बढ़ता जाता था, शरीर शिथिल होता जाता था। जगरानी ने शीला को समझाया कि उसका घर अन्य वेश्याओं की तरह नहीं है जहाँ टके मोल जवानी बिकती है। उसका काम केवल गाना है। उसके पास इतना धन है कि सात पीढ़ियाँ बैठे-बैठे खा सकती हैं, पर दुर्भाग्यवश उसके कोई सन्तान नहीं, कोई आगे-पीछे नहीं जिसका उसे कुछ सहारा हो। शीला पर उसने माँ का स्नेह उड़ेलना शुरू किया। शीला गर्भवती है। इस हालत में वह कहाँ जायगी, क्या करेगी। उसे आराम चाहिये, उसे देख-भाल की आवश्यकता है। यदि उसे जाना ही है, तो बच्चा हो जाने के बाद वह चली जा सकती है। जगरानी ने विश्वास दिलाया कि वह शीला की ज़िन्दगी का राज़ किसी पर भी जाहिर न होने देगी; उसके यहाँ शीला का होना कोई जान नहीं सकता। और शीला ने भी सोचा, वह जाय तो जाय कहाँ? उसके लिये सभी मार्ग बन्द थे। जगरानी में उसे निस्वार्थ स्नेह की झलक दिखी, और उसने अपने जीवन को जगरानी के हाथों में भाग्य के सहारे छोड़ दिया।

× × ×

जगरानी ने शीला से कहा—'बेटी, तू अब भूल जा कि तेरा नाम शीला है। तेरा नाम आज से है शिवकुँअर।' और फिर उस दिन से वह शिवकुँअर के नाम से पुकारी जाने लगी। जगरानी के यहाँ इने-गिने लोगों का ही आना-जाना था, पर शिवकुँअर किसी के आगे नहीं निकलती थी। यदि वह निकलती भी, तो जगरानी के बूढ़े उस्ताद हामिद अली खाँ के सामने, जो जगरानी के आग्रह से शिवकुँअर को रोज घण्टे दो घण्टे गाना सिखलाने के लिये आ जाते थे। शिवकुँअर का गला बड़ा सुरीला था और उसकी आवाज में एक अजीब तरह का दर्द था। जब वह विहाग के स्वरों पर गाती 'इन नैनन ने नींद न जानी', तो बूढ़े उस्ताद की आँखों से आँसू बह चलते। वह शिवकुँअर के कन्धे पर हाथ रखकर कहते, 'बेटी, मेरी साधना तूने सफल की। तेरे स्वरों में आज मेरा संगीत रो उठा है।'

जगरानी भावुक होते हुए भी अपने में एक कमाल रखती थी—बातें ही बातें करके उसने शिवकुँअर की भावनाओं को ही बदल दिया। मनुष्य-जीवन को हतोत्साह और पलायनवादी बनाने वाली जितनी भी भावुकताएँ शिवकुँअर में थीं, उनको जगरानी ने अपनी वाक्पटुता से दूर कर दिया। शिवकुँअर धीरे-धीरे अपनी जगह पर मजबूत हो रही थी। एक बार जो जगरानी के बहुत आग्रह पर वह पहली बार रेडियो पर गाने के लिये गई, तो सुनने वालों ने अनुमान लगा लिया कि शिवकुँअर के गाने में जो कलात्मक भाव हैं, वह कुछ सस्ते नहीं हैं। उसके गाने के आगे जगरानी की ख्याति फीकी पड़ गई। जगरानी ने चारों ओर से जो शिवकुँअर के संगीत की प्रशंसा सुनी, तो प्रसन्न होकर उसे अपने कलेजे से लगा लिया और बोली—'बेटी, तुममें कला की देन है, तुम्हारे बोल में

सरस्वती है। तुम अपनी संगीत की साधना को जीवन भर न छोड़ना। तुम जो चाहोगी, दुनिया तुम पर निछावर करने दौड़ेगी। एक मानिकचन्द तो क्या, हजार मानिकचन्द तुम्हारी जूतियों पर नाक रगड़ेंगे।'

समय आने पर शिवकुँअर के एक सुन्दर-सी लड़की पैदा हुई। जगरानी ने हजारों रुपया इस खुशी में खर्च कर डाला। दावतें हुईं, महफ़िलें जुटीं; चार-पाँच दिन तक उत्सव मनाया गया। लड़की का नाम रखा गया—केसरी।

* * *

शिवकुँअर को जगरानी के यहाँ रहते हुए दस वर्ष बीत चुके थे। दिनों दिन शिवकुँअर की ख्याति बढ़ती जाती थी। उसके रईसाना ठाठ हो गये थे। जगरानी ने एक नई कोठी खरीद ली थी और एक अच्छी-सी मोटर, जिस पर रोज़ शाम को शिवकुँअर सैर करने के लिये जाती। उसकी दुनिया ही बदल गई थी। उसे कभी न बाप की याद आती, न माँ की, न पति की, न ससुर की। वह बिल्कुल माया-मोह-रहित हो चुकी थी। जब वह अपने उस जीवन को याद करती, जब ससुर के घर से निकाली गई थी और उसके बाद जो गली-गली की ठोकरें उसे खानी पड़ी थीं, तो उसका कलेजा काँप उठता। आज वह रानी है। उसे दूसरों के आगे अपना कलेजा खोलकर नहीं दिखलाना पड़ता; दुनिया खुद उसके आगे अपने दिल का रोना रोने के लिये आती है। शिवकुँअर को अपने इस जीवन से सन्तोष था। उसे शान्ति मिल रही थी। उसे अगर किसी की ममता थी, तो एक थी जगरानी जिसने एक मनुष्य के नाते उसे समझा और उसके डूबते हुए जीवन को सम्हालकर उसे सुख और ऐश्वर्य की

इस सीमा पर पहुँचाया; और दूसरी थी केसरी, जो शिवकुँअर की ही छाया थी, उसका खून थी, उसका प्राण थी।

समय की गति, जगरानी एक दिन बीमार पड़ी, और वह बीमारी उसके लिये अन्तिम बीमारी हो गई। मरने के पहले उसने आँसू बहाते हुए शिवकुँअर और केसरी को अपनी छाती से लगाया, और शिवकुँअर को अपनी सारी जायदाद सौंपते हुए कह गई—'याद रखना बेटी, आसमान का ईश्वर जो हो सो हो, पर जमीन का ईश्वर पैसा है।' जगरानी की मृत्यु से शिवकुँअर के हृदय को गहरा धक्का लगा। पर कुछ दिनों की उचाटी के बाद समय ने उसका मन फिर दुनिया की तस्वीर में उलझा दिया। उसके बराबर धन-वैभव-युक्त और कोई वेश्या शहर में न थी। अब यदि कोई उसे वेश्या कहता, तो वह एक सूखी हँसी में उस बात को उड़ा देती। वह किसी से सीधे मुँह बात भी न करती, फिर भी लोग उसकी ओर दौड़ते। उसके कहने भर की देर थी, लोग उसके लिये आकाश के तारे तोड़कर लाने के लिये तैयार थे।

× × ×

समय थोड़ा और खिसका। केसरी अब सोलह वर्ष की हो गई थी। सौन्दर्य और कोमलता की सजीव प्रतिमा—हिरणी-सी बड़ी-बड़ी पानी चढ़ी आँखें। सितारों से झिलमिलाती हल्के नीले रंग की साड़ी में चमकती हुई केसरी ऐसी लगती थी मानों वर्षा हो जाने के बाद निकले इन्द्रधनुष के सातवें हिस्से में लिपटकर सूर्य की एक सुनहली किरण धरती पर आ खड़ी हुई हो। केसरी को सङ्गीत की उत्तम-से-उत्तम शिक्षा दी गई और वह इस कला में अपनी माँ से कहीं बढ़-चढ़कर निकली। उसकी सुन्दरता पर

लोग जान देते थे, परन्तु लोगों के हृदयों में उसे प्राप्त कर लेने की आशा का दीप जलते ही निराशा का एक झोंका उसे बुझा देता। कोई केसरी को आकाश के चाँद की तरह अप्राप्य समझकर केवल एक बार आँख उठाकर झुका लेते; कोई अपने झोपड़े में टाट तक न होने के कारण भाग्य को कोसकर मन समझा लेते; और कोई तो इतना ही सोचकर रह जाते कि यदि भाग्य ने साथ दिया, तो वह केसरी के पीछे सौ डेढ़ सौ खर्चकर सकते हैं। परन्तु केसरी का मूल्य तो उन्हीं को मालूम हो पाता जो आगे बढ़कर भाव करने की हिम्मत रखते थे।

× × ×

और आगे की बातें तो नामदेव स्वयं जानता था, समझता था। शिवकुँअर के यहाँ आने वालों में एक थे राय अम्बिकाप्रसाद जिनकी गिनती शहर के बड़े-बड़े रईसों में थी। शहर में उनके कई छापेखाने थे और प्रकाशन कार्य करते थे। उनमें मनुष्य-सुलभ कुछ विशेष गुण होने के कारण शिवकुँअर के यहाँ उनका बड़ा मान था। एक शाम को राय अम्बिकाप्रसाद के साथ यही नामदेव शिवकुँअर के यहाँ आया। गोरे रंग—छरहरे बदन का एक सुन्दर-सा नवयुवक जिसके चेहरे में एक विचित्र आकर्षण था। राय अम्बिकाप्रसाद ने उसका परिचय देते हुए कहा कि वह लेखक है, कई पुस्तकें लिख चुका है, उसकी क़लम में जादू है, सङ्गीत का प्रेमी है और शिवकुँअर के गाने की प्रशंसा सुनकर उसे शिवकुँअर का गाना सुनने की उत्कण्ठा पैदा हुई। शिवकुँअर ने नामदेव का भली प्रकार सत्कार किया। उस दिन शिवकुँअर की तबियत कुछ ठीक न थी, और वह नामदेव को निराश भी नहीं करना चाहती थी। अस्तु उसने

केसरी से गाना सुना देने को कहा। माँ की आज्ञा पाकर केसरी गाने बैठी।

उसने गाना जो सुनाया, सो सुनाया, पर अनजाने नामदेव की दुनिया में हलचल मचा दी। केसरी के लिये यह कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात न थी, क्योंकि संसार में सभी सुन्दरियाँ अनजाने न जाने कितनों की दुनिया में रोज ही हलचल मचा बैठती हैं। नामदेव केसरी की ओर आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे वह शिवकुँअर के यहाँ आने लगा और अपनी शिष्टता और व्यवहार से शिवकुँअर और केसरी—दोनों के ऊपर उसने ऐसा अधिकार जमा लिया कि वह घण्टों बैठा बातें करता रहता और कोई भी न चाहता कि उसकी बातें खत्म हों। धीरे-धीरे केसरी नामदेव के प्रेमजाल में फँसती गई।

शिवकुँअर ने जब जाना कि केसरी किस ओर बही जा रही है तो उसे रोकना चाहा। लेकिन केसरी बहुत आगे बढ़ चुकी थी; और शिवकुँअर के पास उसको रोकने के लिये सिवाय इसके और कोई मार्ग न था कि वह अपने अनुभवों को केसरी के आगे रख दे। शिवकुँअर नहीं चाहती थी, केसरी प्रेम या विवाह के चक्कर में पड़े, किसी की गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाय। शिवकुँअर जितना नामदेव से केसरी को दूर रखने का प्रयत्न करती, केसरी उतना ही उसकी मुहब्बत का दम भरती। नामदेव ने न जाने क्या जादू कर दिया था उस पर। शिवकुँअर ने अपने यहाँ नामदेव का आना-जाना तो बन्द कर दिया, पर केसरी के पागलपन से उसके हृदय को बड़ा धक्का लगा। उसके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन आ गया। वह बात-बात पर चिड़चिड़ा उठती। केसरी प्रेम की दोहाई देती, पर शिवकुँअर पर उसका कोई भी प्रभाव न था। वह अब किसी भी बात से प्रभावित नहीं

हो सकती थी। वह केसरी को समझाती; और उसके समझाने में, उसके उपदेशों में कूट-कूटकर वह सारे तर्क भरे थे जो एक वेश्या में अपना पक्ष मजबूत बनाने के लिये होना चाहिये। लोग शिवकुँअर को वेश्या कहकर भले घृणा से मुँह फेर लेते हों। उसको पतिता कहकर नरक के कीड़ों की बढ़ती हुई गिनती पर त्राहि-त्राहि चिल्ला लेते हों; मुँह का उगला हुआ निवाला, कुत्तों की चिचोड़ी हुई हड्डी—उसे जो कुछ भी समझते हों। पर शिवकुँअर को अपने पर, अपने जीवन पर सन्तोष था, सुख था, शान्ति थी। वह अपने पिछले जीवन को, जीवन के पिछले इतिहास को भूल चुकी थी। याद रह गई थी तो केवल वह आग जिसको लेकर वह घर से निकली थी और जिसमें वह अक्ल के ठेकेदारों को धीरे-धीरे जला कर अपनी ज्वाला ठण्डी कर रही थी। जब केसरी नामदेव से विवाह करने के लिये कहती, एक हिन्दू कुलवधू का आदर्श जीवन व्यतीत करने की बात सुनाती, तो शिवकुँअर केसरी को समझाती—'देख बेटी, हिन्दू स्त्री का पति ईश्वर है। और हिन्दू पति की स्त्री उस मुर्गी की तरह है कि जब तक जिये, अण्डा देती रहे और जब उसके मालिक का जी चाहे, उसको हलाल करके खा जाय। हिन्दू पति में सामर्थ्य है तो वह हजार औरतें रख सकता है। उसको कोई रोकने वाला नहीं। और हिन्दू स्त्री? उसके लिये पति ही ईश्वर है। धर्म, कर्म, ज्ञान सब वही है; दूसरे पुरुष से बात तक करना पाप है। यह इसीलिये न कि पत्नी पर पति का अधिकार है, उसकी हुकूमत है? और यह हुकूमत इसीलिये कि वह समर्थ है, साधनयुक्त है, और स्त्री बेचारी उसके आश्रित है? एक पैसे की भी आवश्यकता हो तो स्त्री को पुरुष के आगे हाथ फैलाना पड़ता है, वह उसकी ओर आँख उठाकर देखती है, वह पैसे वाला है, कमाऊ

है; उसे अपनी जेब पर अभिमान है और विश्वास है उन नियमों पर, जो उसके पूर्वज उसके हित के लिये स्त्रियों को हर ओर से मजबूर कर देने के लिये बना गये हैं। वह जानता है कि यदि वह स्त्री को ठोकर मारकर घर से बाहर निकाल देगा, तो संसार में उस स्त्री को पूछने वाला कोई नहीं। वह लौटकर फिर उसके चरणों पर गिरेगी। वह निराश्रित है, निरक्षर है, गँवार है, एक पैसा नहीं कमा सकती, अपना पेट नहीं पाल सकती। याद रखो बेटी, आसमान का ईश्वर जो हो, सो हो, पर जमीन का ईश्वर पैसा है। चोरी करो, डाका डालो, ईमानदारी से, बेईमानी से, सुकर्म से, कुकर्म से, जिस तरह से भी हो सके पैसा अपनी मुट्ठी में करो। यदि तुम स्त्री हो, तो रूप बेचो, यौवन बेचो, सतीत्व, धर्म, कर्म सभी बेच डालो, मगर पैसा इकट्ठा करो। यदि तुम्हारे हाथ में पैसा है, तो पापी को धर्मात्मा बनाया जा सकता है, और धर्मात्मा को पापी। यदि तुम्हारे पास पैसा है तो राजाओं की इज्जत बीच बाजार में उतरवा सकती हो और गदहे को राजसिंहासन पर बिठा सकती हो। पैसा कुत्ते को इन्सान और इन्सान को बन्दर बना सकता है। पैसा है तो दुनिया की सारी शक्तियाँ तुम्हारे हाथ में हैं; पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच सभी की परिभाषायें बदल देना तुम्हारे हाथ में है। तुम मेरी बेटी हो। मेरी हजारों, लाखों की सम्पत्ति की मालिक तुम होगी। तुम जिस तरह भी चाहो, दुनिया में आनन्द लूट सकती हो। तुम्हारे एक इशारे पर अच्छे-अच्छे रईस नाच सकते हैं। लेकिन क्या तुम विवाह करके फिर वह आजादी, वह आनन्द उठा सकती हो? याद रखो बेटी, प्रेम और विवाह में कोई सम्बन्ध नहीं है और सोचो तो वह दिन जब तेरा पति मेरे पति की तरह घूँसा तान-तानकर तुझसे कहेगा 'मैं तेरा पति हूँ,

मैं तेरा पति हूँ' और जब चाहेगा, झोंटे पकड़कर तुझे घर से बाहर ढकेल देगा।'

परन्तु एक ओर तो शिवकुँअर अपने सारे अनुभवों के जोर से केसरी का मन नामदेव की ओर से हटा देने का प्रयत्न कर रही थी, और दूसरी ओर नामदेव, अपनी जबान में शक्ति रखने वाला नामदेव धड़ाधड़ केसरी की कोमल भावनाओं पर चोटें मार-मारकर उसे अपने आगे बेबस बनाता चला जाता था। वह एक बात धीरे से कहकर केसरी की भावनाओं में आग लगा देता और वह घण्टों उस आग में तड़पा करती। वह पूछता—'क्या तुम्हें अपनी जवानी का एहसास कभी नहीं होता? क्या तुमने अपने सपनों में कोई तस्वीर नहीं खींची? क्या तुम्हारा जी नहीं चाहता कि किसी एक पर निछावर होकर उसकी गोद के साये में सोकर, एक अटूट, मधुर स्वर्गिक स्वप्न में अपनी जिन्दगी की सुबह कर दो?' यदि केसरी बातें टालने के लिये कह देती, 'नहीं' तो नामदेव गम्भीर स्वरों में कह चलता—'नहीं केसरी, नहीं। तुम मुझे धोखा दे सकती हो, अपने को नहीं। क्या तुम नहीं कहकर अपने को धोखा नहीं दे रही हो? हर एक जवान लड़की के मन में ऐसे विचार उठते हैं। हर एक जवान लड़की अपने सपनों में किसी सुन्दर जवान छोकरे की तस्वीर खींचती है। यह दूसरी बात है, तुम अपनी तस्वीर को प्रत्यक्ष रूप में देखने से मजबूर हो रही हो। तुममें हिम्मत न हो, तुम्हारा, तुम्हारी माँ का पेशा यह गवारा न करता हो, मगर तुम्हारा हृदय—बता दूँ, तुम्हारा हृदय क्या चाहता है? वह क्या कहता है?' और फिर केसरी पागलों की तरह चीखने लगती—'नहीं—नहीं।'

नामदेव का केसरी के यहाँ आना-जाना तो बन्द ही हो गया

था। इसलिये केसरी अपनी माँ से छिपकर उससे मिला करती। कभी होटल में, कभी सिनेमा में, कभी पार्क में, पेड़ के नीचे छनती हुई चाँदनी में।

× × ×

कुछ दिनों तक यह चलता रहा। केसरी ने जब अपने अठारहवें वर्ष में पैर रखा, तो पन्द्रह दिन की कठिन बीमारी के बाद शिवकुँअर चल बसी।

केसरी को यह तो न मालूम हो सका कि उसकी माँ का असल नाम क्या था, वह किस कुटुम्ब की थी, किसकी बेटी थी, किसकी बहू थी; पर उसकी माँ ने मरने के पहले उससे अपने जीवन का वह इतिहास—एक हिन्दू कुलबधू के जीवन का इतिहास—कह सुनाया था।

उसने न अपना, न अपने पिता, पति, ससुर आदि का नाम ही बतलाया और केसरी के पूछने पर न यही बतलाया कि पिता के घर से लाई हुई फ़ोटो का उसने क्या किया। केसरी इच्छा रखते हुए भी उस फ़ोटो को न देख सकी, न पा सकी।

केसरी को याद थीं वे बातें, और जब-जब वेश्या के जीवन से ऊबकर वह किसी एक की गोद में एक हिन्दू कुलबधू की तरह अपना सारा जीवन काट देने को सोचती, तो उसकी माँ की खाई हुई ठोकरें, मरते समय आँसुओं के साथ कही हुई उसकी माँ की बातें उसके कलेजे में आग लगा देतीं। और उसके जलते हुए दिल को कुछ ठण्ढक महसूस होती जब वह याद करती वह दिन, जब उसकी माँ को उसके सारे प्यार, दुलार, धर्म, कर्तव्य के बदले में मिली थीं गली-गली की ठोकरें। और आज का दिन जब केसरी की ठोकरों के बदले लोग कहते

हैं—'तुमको आता है प्यार पर गुस्सा; मुझको गुस्से पे प्यार आता है।'

× × ×

केसरी घुटनों में मुँह डाले सिसक रही थी और नामदेव दीवार पर टँगी शिवकुँअर की तस्वीर पर आँखें गड़ाये हुए विचारों में डूबा हुआ था। शिवकुँअर के विवाहोपरान्त जीवन से लेकर आज तक की घटनाएँ उसकी आँखों के आगे सिनेमा के चित्रों की तरह चल रही थीं। कोई कमी थी तो यही कि वह शिवकुँअर का असली नाम न जान सका और न उसके माता-पिता, सास-ससुर का। नामदेव सोच रहा था, केसरी किसकी लड़की है, उसके पिता का क्या नाम है। क्या कभी वह यह जान सकेगा?

उसी समय नौकर ने आकर खबर दी कि राय साहब आये हुए हैं। नामदेव ने पूछा कौन राय साहब?—तो केसरी सिर उठाकर बोली—'राय साहब लाला मानिकचन्द। अरे कल जहाँ गाने के लिये गई थी, वहाँ एक बूढ़ा रसिया मिला था। उसीने आने को कहा था। वही होगा।' और वह उठकर दूसरे कमरे में चली गई।

नामदेव उस समय बहुत परेशान था। केसरी की माँ की जीवनी ने उसकी भावनाओं को इस तरह उमेठ दिया था कि वह थोड़ी देर के लिये अपने को भूल गया। उसे लगा जैसे सामने दीवार पर टँगी, बड़े से चौखटे में मढ़ी हुई शिवकुँअर की तस्वीर कह रही है—'लेखक, कहानीकार! सुना तुमने? मैं ही हूँ वह गली-गली की ठोकरें खाने वाली एक हिन्दू कुलवधू जिसने विवाह के पहले वही स्वप्न देखे थे, वही आदर्श बनाये थे जिन्हें तुम केसरी को सिखा रहे हो........।'

नामदेव की आँखों में आँसू छलछला आये। वह उठा और तस्वीर के पास पहुँचा। जेब से रूमाल निकालकर, हाथ बढ़ाकर चाहा कि तस्वीर के शीशे पर लगी हुई धूल पोंछ दे कि अचानक तस्वीर खिसक पड़ी और फर्श पर गिरकर चकनाचूर हो गई। तस्वीर के पिछले हिस्से में शायद कुछ काग़ज़ छिपे हुए थे जो ज़मीन पर बिखर गये। नामदेव ने उन्हें उठा लिया। उसने देखा—एक थी छोटी-सी तस्वीर, आधी तस्वीर जिसमें दो मूर्तियों ने साथ-साथ फ़ोटो खिचवाया था। एक तो थी शिवकुँअर, जब वह सत्रह-अठारह वर्ष की रही होगी; और दूसरे थे शायद उनके पतिदेव। नामदेव ने दूसरा काग़ज़ उठाया। वह था एक गुलाबी रंग का छपा हुआ निमंत्रण-पत्र जो बनारस निवासी किसी कल्याणदास की ओर से था कि '......निवेदन है कि मेरी पुत्री कुमारी शीला का विवाह-संस्कार आषाढ़ सुदी नवमी सं० १९८४ वि० को फ़ैज़ाबाद निवासी लाला मेहरचन्दजी रईस के सुपुत्र चिरंजीव मानिकचन्दजी के साथ सम्पन्न होना निश्चित हुआ है......।'

नामदेव का दिमाग़ एक-दम घूम गया। वह सब समझ गया, सब समझ चुका था। उसके कानों में उस समय यदि कोई शब्द गूँज रहा था तो वह था 'मानिकचन्द।'

वह एकदम लपका, और धीरे से उस कमरे के दरवाज़े को खोला जिसमें केसरी बैठी हुई राय साहब से बातें कर रही थी। नामदेव ने देखा—राय साहब ने केसरी का हाथ पकड़कर उसकी उँगली में सोने की अँगूठी पहनाई, फिर उसे अपनी ओर घसीटा, केसरी ने अपने को अलग करना चाहा और कुछ क्रोध दिखलाया तो राय साहब बोले—'अयहय, अपना गुस्सा देखो, मेरा प्यार देखो। 'तुमको आता है प्यार पर

गुस्सा; मुझको गुस्से पे प्यार आता है।' और यह कहते-कहते उन्होंने केसरी के गले में बाहें डाल दीं।

नामदेव से अब न रहा गया। वह क्रोध से भरा राय साहब के पास पहुँचा और धड़ से एक तमाचा उनके मुँह पर जड़ दिया, राय साहब चौंक गये। फिर सम्हलकर बोले—'इसका मतलब ?' तो नामदेव ने वह तस्वीर और वह निमंत्रण-पत्र राय साहब के मुँह पर खींचकर मारते हुए कहा, 'देखिये।' राय साहब ने तस्वीर उठाकर देखी।

नामदेव ने पूछा—'यह आप ही की तस्वीर है ? मानिकचन्द आप ही का नाम है ?'

'हाँ......' राय साहब ने तस्वीर की ओर से आँखें हटाकर नामदेव की ओर देखकर कहा।

'और आपके साथ यह कौन है, फोटो में ?'

'मेरी औरत ?'

'इसका नाम क्या है ?'

'क्यों ?'

'मैं पूछ रहा हूँ।' नामदेव ने मुट्ठी बाँधते हुए कहा।

'शीला...' मगर राय साहब कुछ हैरान से दिख रहे थे।

'और याद है' नामदेव ने बिना उनके 'मगर' पर ध्यान दिये हुए पूछा, 'जब आपने शीला को मारकर घर से निकाला था, करीब अठारह वर्ष पहले, तब उसके दो माह का गर्भ था ?'

'हाँ......मगर......' राय साहब का स्वर काँप रहा था।

'और यह जो सामने केसरी खड़ी हुई है, जानते हैं आप यह कौन है ?' नामदेव ने पूछा।

'नहीं......तो क्या...क्या......!' राय साहब के चेहरे का रंग उतर रहा था, होंठ सूख रहे थे। वह कुछ-कुछ समझ रहे थे।

'तो सुनिये, शीला के उसी गर्भ से पैदा यह केसरी है। आपकी सगी पुत्री केसरी। लगाइये इसे छाती से, दिखलाइये गुस्से पर प्यार !' नामदेव ने राय साहब की गर्दन पकड़कर बड़े ज़ोर से धक्का दिया।

उस समय केसरी अवाक् थी, राय साहब काँप रहे थे, पागल-से हो रहे थे। उनको कुछ सूझ न रहा था। वह वहाँ से भागे, एकदम भागे; जान छोड़कर भागे; भागते गये। उनके हृदय में उस समय कितनी ग्लानि थी ? उनकी आत्मा उनको धिक्कार रही थी। वह अपने कानों में उँगलियाँ खोंसते, पर आत्मा की धिक्कार को कानों में खोंसी हुई उँगलियाँ कहीं रोक सकती हैं ? उन्हें लगा, जैसे सारा संसार घूम रहा हो। चाँद, तारे, आकाश, सब उन पर थूक रहे हों। वह भागे चले जा रहे थे। बाज़ार ख़त्म हो गया, सड़क छूट गई, गंगा किनारे पहुँच गये, और धड़ाम से कूद पड़े। गंगा की गहराई ने उन्हें अपने सीने में सुला लिया, सदैव के लिये। पर मरने के बाद भी राय साहब लाला मानिकचन्द की आत्मा उन्हें धिक्कारती रही या नहीं—यह हम, आप, कोई भी नहीं बता सकते।

८

देवधर घराने की कन्याओं के भाग्य एक दृष्टिकोण से एक से ही थे और वह यों, कि क़रीब-क़रीब सभी कन्याएँ बूढ़ों से ब्याही गई थीं। दूर की बात जाने दीजिये, चाँदनी की माँ और मौसी के ब्याह-समय उनके पतियों की आयु किसी भी प्रकार पचास-पचपन से कम न थी। नासिक के देसाई-बाड़े में बरसों से रहने वाला यह प्राचीन महाराष्ट्रीय घराना निर्धनता में अपने

किसी भी पड़ोसी से कम न था। एक तो कुटुम्ब की सातों पीढ़ियों के जन्मपत्र में धन का गृह बिल्कुल ही ख़ाली था, फिर चाँदनी के नाना ने पुत्र एक भी न पैदा किया; संसार की छाती पर दो लड़कियाँ जीवन के मीठे-कडुवे आनन्द लूटने के लिये छोड़ गये। चाँदनी की मौसी, उसकी माँ की बड़ी बहन, कमलिनी का विवाह रामराव कुलकर्णी के साथ हुआ जो विवाह के छः वर्ष बाद ही उसे छोड़कर चल बसे। दमे के रोगी थे। वैधव्य की सूनी घड़ियों में मन-बहलाव के लिये छः वर्ष के वैवाहिक 'आनन्द' की अगर कोई 'सुनहली' बात कमलिनी को याद आती थी, तो वह थी उसके बूढ़े पति का दिन-रात खों-खों करते रहना। भाग्य थोड़े अच्छे थे जो कमलिनी के कोई बच्चा न हुआ था। कुछ तो भावुकतावश और कुछ देवधर घराने के ख़ून का पुराना असर, उसने यौवनकाल के मध्याह्न को चन्द्रग्रहण की एक लम्बी-सी रात समझकर 'रामधुन' में ही बिता दिया।

रामराव कुलकर्णी की मृत्यु के बाद कमलिनी को धन-जन का कोई आसरा न रहा और वह एक गाँव में सीधे-सादे देहातियों के बीच पर्याप्त परिमाण में स्नेह और निम्नतम भोजन पर गुज़र करने लगी। एक किसान परिवार ने उसे आश्रय दिया और वह खेत पर काम करके उस परिवार का हाथ बटाती। अपने स्वभाव से, सेवाभाव से उसने उस परिवार पर अपने प्रेम का अधिकार जमा लिया था। शहर की सभ्यता और शहर वाली मानवता के बीच मनुष्य कहलाने वाला जीव भले भूखों मर जाय और किसी की आँखों में करुणा और दया की छाया तक न आये, पर ग्रामों में आज भी इन सीधे-सादे, असभ्य, अपढ़ और गँवार कहे जाने वालों में मानवता की इतनी झलक तो दिखती है कि शहर में रहकर अपने को 'मनुष्य' से कुछ

भिन्न समझने वाला जानवर वहाँ जाकर गिर पड़े, उसके पेट के लिये एक समय का भोजन तो कहीं नहीं गया। कमलिनी के पास धीरे-धीरे दो गायें हो गई थीं; अपनी गुजर भर का एक कच्ची मिट्टी का घर भी उसने बना लिया था। शान्ति और सन्तोष के साथ उसके दिन बीत रहे थे।

कमलिनी की छोटी बहन सेवा का विवाह पूनानिवासी बूढ़े चन्दोरकर के साथ हुआ। बूढ़े चन्दोरकर की तीसरी स्त्री के रूप में सेवा उनके घर सुख लूटने आई थी, परन्तु बहुत ही शीघ्र ग़रीबी के अभिशाप के साथ चन्दोरकर सेवा की गोद में एक नन्ही-सी कन्या, चाँदनी को भी छोड़ गये। बूढ़े के साथ ब्याह तो यह समझकर किया गया था कि घर का अच्छा है, पैसे वाला है, सेवा को पेट भर खाना तो मिलेगा! और गरीब की कन्या का विवाह पेट के लिये तो होता ही आया है, यौवन के ओढ़ने-बिछाने का सवाल तो वहाँ उठता ही नहीं। पर पूना में रहकर बूढ़े चन्दोरकर को एक बुरी लत पड़ गई थी जो मरते दम तक न छूटी। घुड़दौड़ में रुपया लड़ाते-लड़ाते उन्होंने उम्र गुज़ार दी थी और उनके अन्त समय घुड़दौड़ के घोड़े उन्हें बुरी चोट पहुँचा गये। उन्हें क्या? वह तो मरकर पता नहीं स्वर्ग में नारायण की लक्ष्मी से आँखें लड़ा रहे होंगे, अथवा नरक में यमदूतों की सींगें देख कलेजा फाड़कर चिल्ला रहे होंगे। पर बीती जो कुछ, सेवा पर बीती, चाँदनी पर बीती।

पूना में बूढ़े चन्दोरकर के तीन पक्के मकान थे; एक छोटा-सा मकान गाँव में था (जो बूढ़े चन्दोरकर के पुरखों की बची-खुची यादगार थी) और करीब पन्द्रह हज़ार रुपये नक़द। जब बूढ़े चन्दोरकर मरे, उनके पास कुल जमा गाँव वाला मकान, पूना में सदाशिव-पेठ वाला मकान और वह मकान जिसमें बूढ़े

चन्दोरकर रहते थे, बच रहे । उनकी पहली स्त्री से दो पुत्र थे सो सदाशिव-पेठ वाले मकान में रहते थे । पिता के मरते ही उन्होंने तीनों मकानों पर क़ब्ज़ा जमा लिया और हर प्रकार सेवा को निकाल बाहर किये जाने के प्रयत्न होने लगे । सीधी-सादी सेवा जब मुहल्ले वालों के आगे गिड़गिड़ाई तब एक दिन जमा होकर उन्होंने सबको समझा-बुझाकर बटवारा कर दिया । सेवा के पक्ष में न्याय हुआ कि वह गाँव वाले मकान में चली जाय और वह जब तक जीवित रहे उसे केवल मकान में रहने का अधिकार होगा । सेवा चली गई । जब सेवा गई, चाँदनी उस समय दो वर्ष की रही होगी ।

लेकिन सेवा अधिक दिन न रह सकी । गाँव वालों की उसके प्रति असीम श्रद्धा थी, हर समय सब सहायता के लिये तैयार रहते । पर होनी को करनी कब रोक सकी है ? सेवा बीमार पड़ी; लगभग दो माह चारपाई पर पड़ी रही । उसकी बीमारी की सूचना पाकर कमलिनी उसके पास आ गई थी । सेवा की हालत गिरती ही जा रही थी । कभी वह कोई भयानक स्वप्न देखकर चीख़ उठती और कभी सोते में रोने लगती । सेवा को विश्वास होता जा रहा था कि वह बचेगी नहीं । और एक रात, जब उसकी चारपाई के सिरहाने जलते हुए दीपक की ज्योति हवा के एक तीव्र झोंके से लहराकर बुझ गई, सेवा के प्राण पखेरू भी उड़ गये । कभी-कभी दीपक में तेल होते हुये भी तो दीपक बुझ जाया करता है ?

कमलिनी ने आँसू बहाते हुये चाँदनी को अपनी गोद से चिपकाया, और फिर फूट-फूटकर रोने लगी । गाँव वालों का कहना है कि एक दिन खेत के किनारे गँड़ासे से काटकर फेंकी गई गाँव भर की चाची रामायणी की लाश देख उनकी स्त्रियाँ

उतना न रोई थीं जितना कि फूट-फूटकर रोती हुई कमलिनी की गोद में चिपटी हुई, भूत, वर्तमान और भविष्य, कुछ भी न समझ पाने वाली चाँदनी को।

कमलिनी चाँदनी को लेकर अपने गाँव आई और थोड़े दिन मजबूरी और निरुत्साह के विश्राम के बाद फिर काम-धन्धे में लग गई। वह जब चाँदनी के मुख की ओर देखती, उसे उसमें सेवा की छाया दिखती। बिल्कुल वैसा ही भोला, करुणा से भरा हुआ, कोई मूक वेदना बरसाता चेहरा—कमलिनी सिहर उठती और अपनी आँख फेर लेती। चाँदनी ज्यों-ज्यों बड़ी होती गई, वह कमलिनी के काम में उसका हाथ बटाती। सात वर्ष की आयु में ही वह रोटी पकाने लगी। कमलिनी जब खेत पर होती, तो वह घर में आधी कच्ची, आधी जली रोटियाँ सेंका करती। कमलिनी कभी-कभी सोचती—चलो अच्छा हुआ, संसार में एक प्राणी तो ऐसा है जिसका किसी समय कुछ आसरा तो किया जा सकता है। कभी-कभी कमलिनी के बुखार जो आ जाता और सिर दर्द करता, तो चाँदनी सिर में तेल मला करती, हाथ-पैर दाबती, और जब चाँदनी के नन्हे-नन्हे हाथों की उँगलियाँ कमलिनी के केशों से उलझतीं, तो कभी-कभी विक्षिप्त कर देने वाले एक पुत्र के अभाव को कमलिनी भूल जाती। गाँव की हरियाली में पलकर, खुली हवा में दौड़-दौड़कर चाँदनी बड़ी होती गई।

× × ×

उस छोटे से गाँव के मालिक जब मरे तो लम्बा-सा क़र्ज़ छोड़ गये जिसके फलस्वरूप कुछ दिनों बाद अदालत ने वह गाँव नीलाम पर चढ़ा दिया। उसको ख़रीदने वाले धनी-सेठ

टीकमदास बम्बई के रहने वाले थे। गाँव को देखने के लिये जब वह प्रथम बार आये, तो जमीन के साथ जमीन पर रहने वालों का भी निरीक्षण किया। हर एक के मुँह से उन्होंने कमलिनी की प्रशंसा सुनी और जब कमलिनी से उनकी दो-दो बातें हुईं तो वह उससे पूरी तरह प्रभावित हो गये और बोले—'तुम यहाँ पड़ी क्यों कष्ट उठा रही हो? चलो, मेरे साथ बम्बई चलो। घर का सारा काम-काज देखना, सारी देख-भाल तुम्हारे जिम्मे रहेगी। तुम शरीफ खान्दान की हो, और मेरी घरवाली को एक ऐसी ही शरीफ औरत की जरूरत है जो दिन-रात उनके साथ रह सके और घर का काम-धन्धा सम्हाल सके। पचास रुपये महीना तुम्हें तनख्वाह मिलेगी और खाना कपड़ा अलग से।' कमलिनी ने सोचा—और यह गाँव, इस गाँव के प्राणी जो मानो अपनी ही आत्मा बन गये हों, क्या यह छूट सकेंगे? क्या वह शहरी जीवन के अनुकूल अपने को बना सकेगी? पर कमलिनी ने सुना था, बम्बई बड़ा अच्छा शहर है, और बहुत ही वैभवशाली, उसने सुना था—वहाँ रहकर आदमी कभी भूखों नहीं मर सकता। उसकी आँखों के आगे सागर की उत्ताल तरंगें उठने-गिरने लगीं, शिलाओं से टकराने लगीं। समुद्र के बारे में उसने सुना ही सुना था, कभी देखने का अवसर न आया था। और फिर चाँदनी? वह चाँदनी का एक उज्ज्वल भविष्य भी तो देखना चाहती थी, कुटुम्ब की लड़कियों के भाग्य में थोड़ा अन्तर भी तो लाना चाहती थी। कई कारणों से उसने निश्चय किया, बम्बई ठीक रहेगा, और वह सेठ टीकमदास के यहाँ आकर रहने लगी।

× × ×

कोठी के चारों ओर फुलवारी थी और चहारदीवारी उठी

हुई थी। पिछवाड़े की ओर, कोठी से मिले हुए पाँच कमरे बने हुए थे जो नौकरों के लिये थे। एक कमरे में रहता था सेठजी का सोफर-दूसरे में पहरेदार, और तीसरे में बगीचे का माली, बाक़ी दोनों कमरे ख़ाली पड़े थे सो कमलिनी को दे दिये गये, वैसे कमलिनी सुबह छः बजे से रात को ग्यारह बजे तक कोठी ही में रहती और चाँदनी कभी माँ के साथ घर के काम-काज में लगी रहती, कभी बगीचे में फूल तोड़ा करती। पर मनुष्य के लिये कहीं अलग चार दीवारें तो होनी ही चाहिये जिनके बीच दो क्षण अकेले निश्चिन्त बैठकर वह दुनिया में अपना कुछ समझ सके! कमलिनी को अपना खाना पकाने की चिन्ता भी गई। वही सेठजी की रसोई सम्हालती, उसे और चाँदनी को उसी रसोई का भोजन मिलता, सेठ के यहाँ उसे जो खाना मिलता, वह उसे पहले कभी नसीब भी न हुआ था। सेठजी की इन दोनों पर विशेष कृपा थी।

× × ×

चाँदनी सोलह वर्ष की होने आई। इतना लम्बा समय इतनी जल्दी कैसे बीत गया, यह कमलिनी को कोठी के कोलाहल में मालूम ही न होने पाया।

मनुष्य के ज्ञान-अज्ञान को कहा जाय अथवा जीवन के उन व्यस्त क्षणों को जब मनुष्य को थोड़ी देर एकान्त में बैठकर, शान्त होकर कुछ देखने, सुनने, सोचने-समझने का अवसर ही नहीं मिल सकता। पर एक दिन सेठ टीकमदास को, उनकी सेठानी को, कमलिनी को, सभी को वह बात मालूम हो गई जो एक स्वच्छ, निर्मल जल के स्रोत की तरह बहती हुई कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है और मनुष्य की आँखें, अनभ्यस्त आँखें,

संसार के भौतिक प्रलोभनों में फँसी और उलझी आँखें बहुत देर में देख पाती हैं। सेठजी किसी इरादे में थे, सेठानी अपना क़िला बाँध रही थीं, कमलिनी अपनी सोच रही थी। और एक दिन सभी का सोचा समझा-मिट्टी में मिलता नज़र आने लगा।

कमलिनी जब सेठ टीकमदास की कोठी में रहने आई थी, तब चाँदनी होगी आठ वर्ष की, और सेठ टीकमदास का एकमात्र पुत्र नारायण, होगा बारह वर्ष का। दोनों में शीघ्र ही घनिष्ठता पैदा हो गई। बूढ़ों को मित्रता पैदा करते चाहे वर्षों लग जायँ, पर बच्चे तो पहली भेंट में ही मित्र हो जाते हैं! दोनों बगीचे में खेला-कूदा करते, एक दूसरे के पीछे दौड़ा करते।

पत्थर और पीतल के देवताओं को पूजे जाते दोनों अपने जन्म से ही देखते आये थे। उधर तो सेठानी नहा-धोकर पत्थर के देवता के आगे आँख मूँदकर बैठतीं, और पूजा-गृह के सामने दालान में बैठा नारायण कहता 'वाह, पत्थर के नारायण को सब पूजते हैं, इस जीते-जागते नारायण को कोई नहीं पूजता।' चाँदनी उत्तर देती, 'इस नारायण की पूजा तो मैं ही कर सकती हूँ।' और वह नारायण को देवता की मूर्ति की तरह बिठा देती—आँख बन्द किये, मुँह लटकाये, स्वप्न देखता-सा, दोनों हाथ कन्धे तक उठाये हुए, जैसे सारी दुनिया को शान्ति का मूक आदेश दे रहा हो। चाँदनी उस पर पानी छिड़कती, फूल के बदले तरकारी के छिलके चढ़ाती, बगीचे से घास तोड़कर भोग लगाती, और जब घण्टी के स्थान पर थाली पीटने लगती तो पत्थर के देवता की ओर लगा हुआ सेठानी का ध्यान टूट जाता। वह पूजा-गृह से निकलकर चिल्लाने लगतीं—

'इन दोनों से तो मैं ऊब गई, भगवान्! चन्दो, ले तो जा तू अपने देवता को कोठी से बाहर। और नारायण! यह भी तो कैसा घोंघा बना बैठा है। बड़ा आया देवता कहीं का, भाग यहाँ से!' दोनों खिलखिलाते हुए बाहर भाग जाते।

परन्तु कुछ अंशों में सोलह वर्ष का छोकरा बारह वर्ष की छोकरी के आगे निरा छोकरा ही रहता है। जब चाँदनी बारह वर्ष की हुई तो वह अपने मन ही मन में, अज्ञात में बने हुए सपनों में रंग भरने लगी और नारायण उसे बस तितलियों के पीछे दौड़ने वाली, हँसती खेलती हुई गुड़िया ही समझता रहा जिसके साथ बच्चों की तरह खेलने और लड़ने तक ही उसका सारा ज्ञान सीमित था।

× × ×

समय थोड़ा और खिसका। नारायण ने सिनेमा देख-देखकर, और चाँदनी ने सेठ टीकमदास की मेज़ पर रखी 'माया' की फ़ायलें पढ़-पढ़कर, बहुत अध्ययनशील, दत्तचित्त विद्यार्थियों की तरह यह जानने का प्रयत्न कर रहे थे कि प्रेम क्या है, किससे किया जाता है, कैसे किया जाता है। उनके सामने 'होने' और 'करने' के भेद का प्रश्न ही नहीं था क्योंकि स्वाभाविक रूप में प्रेम ने तो बचपन से ही दोनों को बाँध रखा था। बचपन से सबके सामने चाँदनी के नाक-कान खींचने वाले नारायण ने जब एक दिन एकान्त में चाँदनी का हाथ पकड़कर खींचा और काँपते हुए शब्दों में डरते-डरते बोला—'चाँदनी!' तो चाँदनी ने लजाकर मुस्कराकर कहा 'हुश' और फिर हाथ छुड़ाकर भाग खड़ी हुई। सेक्स-ज्ञान हो जाने के बाद प्रेमी-प्रेमिका के रूप में नारायण और चाँदनी

का यह मिलन बहुत ही सफल, स्वाभाविक और साधारण रूप में हुआ।

और फिर प्रेम ने अपनी अठखेलियाँ सदियों के पिटे-पिटाये अपने उसी पुराने ढंग से शुरू कर दीं। आँखों में गुलाबी डोरे पड़ने लगे। दोनों अब सबके सामने, एक दूसरे से मिलते हुए, बात करते हुए झिझकते। पर प्रेम के मारे मरीजों के मसीहा, धन्वन्तरि, कविवर बिहारी तो कह ही गये हैं न?—कहत नटत रीझत खिझत खिलत मिलत लजियात। भरे भौन मा करत हैं, नैनन ही सों बात।

कुछ दिन प्रेम का लजीला रूप रहा, फिर वह सजीला होने लगा। रात्रि में जब कभी कमलिनी देर तक कोठी में उलझी रहती, अथवा कभी सेठानी के अस्वस्थ हो जाने के कारण उन्हीं के पास रह जाती, तो बगीचे के किसी कोने में नारायण और चाँदनी बिना पर के उड़ा करते, और बेपर की उड़ाया करते। भोलेभाले नारायण को आयु, और सम्पर्क ने चंचल प्रेमी बनाया, और अब चाँदनी, बड़ी गम्भीरता के साथ नारायण की दुल्हन बनने का स्वप्न देखने लगी।

बीस वर्ष के नारायण और सोलह वर्ष की चाँदनी में कोई विशेष अन्तर था तो केवल इतना—चाँदनी ने जितनी गम्भीरता के साथ नारायण को अपना मानकर अपने आपको उसे दे चुकी थी, नारायण ने उतनी गम्भीरता से न वह महादान ही लिया था, और न उसके महत्त्व को समझ ही सका था। बीस वर्ष का नवयुवक और सोलह वर्ष की कन्या 'प्रेम' और उसके अन्तर्निहित आत्म-बलिदान को समझ सकने के लिये सर्वथा अयोग्य होते हैं, जवानी के नाते भले वह एक क्या, हजारों की योग्यता रखते हों। और यह तो अपने अपने-स्वभाव, निश्चय

और अपनी-अपनी भावुकता की बात है कि धुन में आकर कोई भी जो चाहे कर उठाता है। मिठाई के पीछे मचला हुआ पाँच-छः वर्ष का बालक भी तो मिठाई चुराकर, खाकर उससे अपनी 'धुन' शान्त कर लेता है, अथवा रो-रोकर घर-भर को हैरान कर देता है, धूल में लोटने लगता है, जमीन पर सिर पटक देता है।

नारायण के सन्मुख चाँदनी के प्रति प्रेम का महत्त्व उतना ही था जितना 'माया' के पाठकों को दिसम्बर का अंक पाकर नवम्बर के अंक के प्रति हो सकता है। कालेज में नारायण की आँखें एक लड़की से उलझ गईं। वीणा चाँदनी से अधिक सुन्दर तो न थी, चंचलता में अवश्य बढ़-चढ़कर थी। उसने एक बार जो नारायण को देखकर मुस्करा दिया, तो नारायण ने सोचा, उसके प्रेम ने, उसके 'सौंदर्य' ने वीणा के हृदय पर भी छापा मार दिया। कुछ दिनों तक नारायण दोनों के बीच भूलता रहा। किसको पकड़े, किसको छोड़े। वीणा के 'स्वरों' ने भी तो नारायण को घेरना आरम्भ कर दिया था?

किसी नवजवान छोकरे को बेमौत मरने के लिये बस दो बातें काफ़ी हैं; एक तो वह निर्बल हृदय का, डगमगाते विचारों का और उलझी बुद्धि वाला हो, और दूसरे यह कि दो या दो से अधिक सुन्दर-सुन्दर जवान-जवान लड़कियों के चक्कर में फँस जाय। बस, मर जायगा बेचारा। और यदि नहीं मरा, तो एक को, दो को या सबको मारकर ग़ाजी बना अपनी विजय पर डींग हाँकता फिरेगा।

फिर यदि एक पर दूसरी के होने का भेद प्रगट हो जाय, तो? बहरहाल चाँदनी को वीणा के अस्तित्व और नारायण पर उसकी आसक्ति का पता चल गया। ऐसे अवसरों पर औरों को

क्या भावनाएँ हो सकती हैं, यह तो छोटी-सी और सीधी-सादी बात होते हुए भी विवाद का विषय बन सकती है, पर जहाँ तक चाँदनी का सम्बन्ध है, उसने रो-रोकर नारायण का कन्धा अपने आँसुओं से तर कर दिया।

और जिस समय वह बगीचे के उसी कोने में नारायण की छाती से चिपकी वीणा के प्रति भरे दिल व दिमाग़ का बुखार आँसुओं में बहा रही थी, सेठानी सामने आकर खड़ी हो गईं और डपटकर बोलीं, 'नारायण!' सेठानी कुछ दिनों से दोनों के प्रति कुछ सशंक भी तो हो चली थीं। उन्होंने कमलिनी से पूछा, 'चन्दो कहाँ?' उसने कहा, 'अपने कमरे में है।' सेठानी ने नौकरों के कमरे के पास जाकर माली से पूछा, 'चन्दो कहाँ?'—उसने उत्तर दिया, 'अपने कमरे में तो है नहीं, बहूजी, कोठी में होगी।' और फिर चाँदनी को खोजती हुई सेठानी ने चाँदनी को खोज ही लिया, नारायण की गोद में।

एक तो यही क्या कम पाप किया था कि चाँदनी के प्रेमजाल में नारायण अपने को फँसा बैठा—फिर ग़ज़ब यह कि दो-चार डाट खाने पर उल्टे कहे कि वह चाँदनी से ही विवाह करेगा? सेठानी क्रोध से उबल रही थीं, और आवेश में उस बेचारी चाँदनी को भी इतनी जली-कटी सुनाई जो उसने कभी सुनी न थी। पुरखों का यह सिद्धान्त होता है कि यदि अपने किसी बच्चे में दोष देखते हैं तो चुपचाप घर में कह-सुनकर, बात पचा लेते हैं, पर यदि किसी और में दोष दिखा तो उसके बारे में सारे गाँव में चिल्ला-चिल्लाकर गला बैठा लेते हैं। सेठानी ने नारायण से तो कोठी के अन्दर जाने को कहा और फिर चाँदनी के मुँह पर तड़ातड़ तीन-चार तमाचे जड़ दिये, और गालियाँ बकने लगीं। माली, सोफ़र तथा अन्य नौकर जब इकट्ठा हो गये

तो उनके सामने चाँदनी के प्रेम का क़िस्सा रोया जाने लगा—वह नारायण को प्रेम के जाल में फाँसने चली थी, नारायण को उससे विवाह कर लेने के लिये तैयार कर रही थी। जानती थी न, कि लखपती का लड़का फँस जाय, उससे विवाह हो जाय, फिर क्या! मज़ा करेगी। नौकरानी की लड़की, अपना मुँह नहीं देखा उसने। किसी कहार चमार से ब्याह करले वह। और नारायण, नारायण! वह···। कमलिनी ने सेठानी का क्रोध जितना शान्त करना चाहा वह उतना ही भड़कता गया। सेठानी कह चलीं—यह उसीका षड्यंत्र है, उसीका रचा हुआ खेल है। वह चाँदनी की सुन्दरता से अभी न जाने कितने रईसों के लौंडे फाँसेगी, अभी तो केवल नारायण ही पर कोशिश की गई है। कमलिनी ने किसी भी बात का जवाब न दिया, सब पी गई।

सेठ टीकमदास से जब यह सारी कथा नमक-मिर्च लगाकर सेठानी ने कह सुनाई, तो वह सेठानी से कहीं बढ़कर उछले-कूदे। कोठी भर में उन्हीं की आवाज़ गूँज रही थी। उनके हृदय को उनके जीवन का सबसे बड़ा आघात न लगे तो क्यों न लगे? जब वह जानते थे कि नारायण का विवाह सर ढोलूराम कालूराम की लड़की से कभी का तय हो चुका है जहाँ से कुछ नहीं तो एक डेढ़ लाख का सामान दहेज में मिलेगा और एक हाथी अलग से। और चाँदनी के पास? उसके पास सिवाय हाड़-मांस के शरीर के और कुछ नहीं। फिर सेठ टीकमदास शुद्ध मारवाड़ी बनिया सेठ लखपती, और चाँदनी एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण की लड़की और केवल नौकर। धन, जाति, मान-मर्यादा का ख़्याल केवल प्रेम के नाम पर कैसे छोड़ा जा सकता था? सेठ टीकमदास चाहे जितने उदार हों,

और इधर-उधर सभा सोसाइटियों में सुन्दर युवतियों से हाथ मिलाते समय-समय आँखें मीचकर, दाँत काढ़कर, सिर हिलाकर अपनी बूढ़ी हसरतें चाहे जितना निचोड़ लेते हों, पर जहाँ अपनी इच्छा के प्रतिकूल कोई कार्य हो, वहाँ मनुष्य न जाने कितने बेहयाई के तर्कों का सहारा लेने लगता है। मनुष्य जब बेहयाई पर उतर आता है तो वह जानवरों से भी गया-बीता मालूम होने लगता है। सेठ टीकमदास को प्रेम से उतना विरोध नहीं था जितना विवाह से। प्रेम करो, धड़ाके से करो, बनिया और चमारिन में प्रेम हो सकता है, बाम्हन भंगिन से प्रेम कर सकता है परन्तु विवाह? ऊ-हुँ। विवाह तो धर्म और शास्त्र के अन्तर्गत है। विवाह तो अपनी ही जाति में होगा—सेठ टीकमदास की बुद्धि यही तर्क ले उड़ी। अख़बार पढ़-पढ़कर उन्हें 'डिप्लोमेसी' शब्द ख़ूब याद हो गया था; और वह परीक्षा करना चाहते थे कि वह भी एक सफल डिप्लोमेट हो सकते हैं या नहीं। एक संध्या को लगभग दो घण्टे तक एकान्त में उन्होंने कमलिनी से बातें कीं, सलाह की, और दूसरे दिन नारायण को कलकत्ता भेज दिया गया—अपने एक बैठते हुए कारख़ाने का हिसाब-किताब देखने के लिये। सेठजी जानते थे कि वह हिसाब-किताब तो क्या देखेगा, पर यह निश्चय था कि एक माह के पहले वह वहाँ से लौट नहीं सकता था। नारायण चला गया—चाँदनी से क़स्में खाकर कि वह लौटेगा, बहुत जल्द लौटेगा और विवाह करेगा तो उसीसे। उसके जाते ही सेठ टीकमदास ने तार देकर अपने कानपुर वाले कारख़ाने में काम करने वाले एक विष्णु शेवडे को बुला भेजा।

विष्णु शेवडे लगभग चालीस वर्ष के विधुर थे और कुछ अधिक पढ़े-लिखे न थे। सौ रुपया माहवार तनख्वाह पाते थे

और अरसे से एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे थे। सुबह सात बजे से शाम को सात बजे तक काम पर रहते। खाना खाने का प्रबन्ध होटल में कर रखा था और रात में एक मित्र के यहाँ सो रहते, जिसने अपने मकान में शेवडे को एक कमरा व अन्य सहूलियतें दे रखी थीं। कोई बड़ी लम्बी-चौड़ी गृहस्थी न थी शेवडे की। एक अकेले, बिल्कुल अकेले, बिना किसी की ज़िम्मेदारियाँ अपने सिर पर लिये जीने वाले की जो गृहस्थी हो सकती है, वही शेवडे के पास थी। एक छोटी-सी चारपाई, बिस्तर, एक छोटा-सा ट्रंक, कुछ कपड़े, थोड़े से बर्तन और छोटी-मोटी दो-चार और चीज़ें और एक लालटेन, जो मनुष्य के अन्तिम समय तक उसके जीवन के साथ बँधी रहती है।

शेवडे का फिर से विवाहकर घर बसाने का कोई विचार न था और सेठ टीकमदास से मिलने के पूर्व उन्हें यह आभास तक न हुआ कि उन्हें किस लिये बुलाया गया है। सेठजी से बातें करते हुए जब उनके सामने यह प्रस्ताव आया तो उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रगट की। परन्तु सेठजी सफल 'डिप्लोमेट' बनना चाहते थे न? चाँदनी ऐसी सुन्दर लड़की के लिए सेठजी ने शेवडे को ही क्यों खोजा, इसकी सफ़ाई तो वह न दे सके, और न देना उन्होंने उचित ही समझा, पर और तमाम कारण उन्होंने शेवडे के आगे रखते हुए शेवडे की भावुकता, दया को उभारकर चाँदनी के उद्धार का पुण्य लूटना चाहा। चाँदनी बहुत ग़रीब लड़की है, उसके पास देने को कुछ नहीं है, धनाभाव के कारण उसके योग्य पति मिल नहीं सकता। फिर सेठ टीकमदास भी शेवडे के काम से सदैव प्रसन्न रहे, जोकि उस दिन के पहिले शेवडे पर अपनी प्रसन्नता प्रगट करने का उन्हें कभी अवसर न मिला। वह चाहते थे कि चाँदनी का

विवाह शेवडे के साथ हो, उनका विश्वास था कि चाँदनी का जीवन शेवडे के साथ ही सुखी रहेगा। फिर जब मालिक प्रसन्न होकर शेवडे को ऐसा अमूल्य रत्न दे रहे हैं, तो उसे ठुकरा देना अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारना है। चाँदनी का रूप देखकर शेवडे पर भी थोड़ा लोभ सवार हो गया और सेठ टीकमदास के आगे 'जैसी आपकी इच्छा' कहकर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी।

चाँदनी ने जब शेवडे को पहली बार देखा तो उसे स्वप्न में भी यह शंका न हुई कि उसका विवाह शेवडे ऐसे मनुष्य से तय किया जा रहा है। वह जितनी गोरी, शेवडे उतना ही काला , वह जितनी सुन्दर, शेवडे उतना ही कुरूप। फिर आयु में भी तो कितना अन्तर। पर जब उसे सेठजी द्वारा शेवडे के इतने अधिक आदर-सम्मान के पीछे छिपी वास्तविकता का रहस्य मालूम हुआ, तब भीतर ही भीतर रो उठी। उसकी आँखों के सामने दो तस्वीरें बराबर-बराबर खड़ी हो गईं—नारायण, शेवडे ; सौन्दर्य, कुरूपता ; प्रेम, घृणा; स्वर्ग, नरक—उसे अपना सारा जीवन ही अन्धकारमय मालूम होने लगा। वह सोचने लगी, 'क्या मेरी मौसी मुझे उसके गले बाँधेगी ? उसके गले बँधने से तो अच्छा यही होगा कि अपने गले में फाँसी लगाकर मर जाय।'

और कमलिनी ? कमलिनी की मनस्थिति समझना कोई सरल बात न थी। कमलिनी उस समय यह निश्चय किये बैठी थी कि शेवडे के साथ चाँदनी का विवाह होकर रहेगा। वह जानती थी कि शेवडे चाँदनी के सर्वथा अयोग्य है। वह अनुभव कर रही थी कि चाँदनी का जीवन शेवडे के साथ सुखमय न होगा। कमलिनी जैसी समझदार स्त्री से यह छिपा न था कि

चाँदनी धीरे-धीरे नारायण के प्रेम में पग रही है और यह जानते हुए भी उसने नारायण के साथ चाँदनी की स्वच्छन्दता में कोई बाधा न डाली, चाँदनी को उसके प्रेमकाण्ड का भविष्य न सुझाया। और सदैव चाँदनी के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखने वाली कमलिनी ने मूक रहकर नारायण और चाँदनी के भयानक खेल को चलते रहने दिया तो क्यों? क्या उसको विश्वास था कि नारायण के साथ चाँदनी का विवाह हो जायगा? विश्वास तो दूर की बात, क्या आशा भी थी? जमाने की आग में तपी हुई कमलिनी क्या यह समझे हुए थी कि देवघर घराने की लड़कियों के माथे के लेखे से भिन्न होकर चाँदनी का विवाह किसी सुन्दर और जवान छोकरे से होगा और फिर वह लड़का भी लखपती का लड़का? जो कुछ भी हो, यह तो मानी बात थी कि नारायण के साथ चाँदनी के सम्बन्ध बढ़ने में कमलिनी का बड़ा हाथ था और यदि वह परिणाम जानकर भी अनजान न बनना चाहती तो वह उस सम्बन्ध को बहुत पहिले खत्म कर सकती थी। हो सकता है कमलिनी ने प्रेम की शक्ति को इतनी महान् समझ रखी हो जिसके सन्मुख अन्य शक्तियाँ नहीं ठहर सकतीं, जिसके सामने मनुष्य की अन्य भावनाओं को दब जाना पड़ता हो, पर जो प्रत्यक्ष दिखा वह बिल्कुल उल्टा ही था। हो सकता है कमलिनी के हृदय में चुपचाप पली हुई अभिलाषा को सेठ टीकमदास के रुख से ठेस लगी हो, पर उसके कारण क्या उसकी भावनाओं में इतना परिवर्तन हो सकता है कि वह चाँदनी के भविष्य को, बिना कोई और मार्ग ढूँढ़े हुए एकदम अन्धकार में ढकेल देने के लिये तैयार हो जाय?

चाँदनी कमलिनी के आगे रोई, गिड़गिड़ाई, नारायण के

प्रति अपने प्रेम की दोहाई दी, पर कमलिनी पर उसका कोई प्रभाव नहीं। वह प्रेम की कड़ी आलोचक बन बैठी। उसके सामने प्रेम एक खोखला, तत्वहीन शब्द था—वह शब्द जिससे केवल भावनाओं को खिलाया जा सकता है, हृदय को भरा जा सकता है, पेट को नहीं। पेट के आगे हृदय कोई चीज नहीं, पेट की भूख के आगे हृदय की भूख का कोई महत्त्व नहीं। पेट पालने का साधन नहीं, प्रेम लेकर कोई ओढ़े कि बिछाये? और जवानी? कमलिनी के आगे जवानी की बात करना मूर्खता थी। सेठ टीकमदास से उसका क्या गुप्त परामर्श हुआ, यह वह बताने में असमर्थ थी। नारायण कहाँ भेज दिया गया, उसका पता क्या है, यह भी वह बताने में असमर्थ थी। सेठ टीकमदास, सेठानीजी, दरबान, माली आदि सभी असमर्थ थे। चाँदनी हजार प्रयत्न करने पर भी नारायण का पता न मालूम कर पाई। उसकी इच्छा थी कि कम-से-कम एक बार तो वह नारायण से मिल ले, उससे अपने भविष्य का निर्णय कर ले। चाँदनी ने कमलिनी से प्रार्थना की, कि वह नारायण के वापस आने तक तो रुक जाय, नारायण से वह एकबार तो पूछ ले, बातें कर लेते, पर कमलिनी ने साफ़ इन्कार कर दिया। वह बोली—'नारायण से क्या पूछना? बेवकूफ़ी की बातें करती है। नारायण जो कहेगा वह मैं पहले से ही जानती हूँ।'

और शेवडे के आने के तीसरे ही दिन सेठ टीकमदास की कोठी में झंडियाँ और झालरें बँधने लगीं; शहनाई की आवाज बगीचे भर में गूँजने लगी। सड़क पर चलने वाले राहगीर सोचते—आज इस कोठी में किसी का विवाह है। कुछ सोचते—विवाह नहीं, किसी बच्चे का मूँड़न होगा, विवाह होता तो महीना भर पहले से इन्तजाम होता। सेठजी क्या कोई मामूली आदमी

हैं ?' और कुछ लोग कहते, 'पता नहीं क्या बात है, केवल थोड़ी-सी झंडियाँ, झालरें और शहनाई—इससे अधिक तो गरीब आदमी के यहाँ इन्तज़ाम होता है।' कहाँ का विवाह, कहाँ की बारात, कैसे बाराती, कैसे जनाती, इससे किसीको क्या प्रयोजन था, जब चाँदनी के ही कानों में यह सब शब्द सूने से लग रहे थे।

चाँदनी को कोठी के ऊपर वाले कमरे में बिठा दिया गया। कभी-कभी कमलिनी अन्दर आकर उसे नाश्ता दे जाती, कभी आकर कहती—यह साड़ी पहन ले, कभी कहती—देख सेठजी ने यह गहना तुझे दिया है, पहन ले। पर चाँदनी का इस ओर ध्यान न था। वह न रो रही थी, न हँस रही थी। उसकी आँखें कभी खिड़की से दिखने वाले बगीचे की ओर देखतीं, जहाँ वह नारायण के साथ तितलियों के पीछे दौड़ा करती थी, कभी वह दरवाजे के सामने दिखने वाली उस दालान को देखती जहाँ वह तरकारी के छिलकों से नारायण का भोग लगाती और घण्टे के स्थान पर थाली बजाती।

रात को जब आठ बजे, कमलिनी ने आकर उसको पीली साड़ी पहनाई, उसके माथे में गेहुँओं से पिरोया हुआ सेहरा बाँधा, फूलों का सेहरा बाँधा और पकड़कर नीचे लिवा ले गई, आँगन में जहाँ चार भट्ट (पुरोहित) बैठे हुए थे, हवन-कुण्ड दहक रहा था। चाँदनी ने आँख उठाकर एक नज़र में देखा—सेठ टीकमदास, सेठानी, सेठजी के नौकर-चाकर, चारों भट्ट और वेदी पर बैठे हुए विष्णु शेवडे—

चाँदनी का कहना है—लगभग दो घण्टे की पूजा में उसने एक बार 'कुर्यात् सदा मंगलम्' की ध्वनि सुनी, एक बार उसने अपने ऊपर हल्दी से रँगे जुआर के दानों की बौछार अनुभव

की और फिर जब उसके हाथ में माला दी गई, शेवडे के गले में पहनाने के लिये, उसे लगा जैसे नारायण सामने खड़ा है, उसके हाथ उठे, काँपे—और फिर उसे कुछ नहीं मालूम। वह बेहोश होकर गिर पड़ी थी।

× × ×

कानपुर शहर के एक कोने में एक छोटा-सा मकान था। नया बना था, साफ़-सुथरा था और मध्यम वर्ग के घर गृहस्थ का उसमें बड़े आराम से गुज़र हो सकता था। मकान के नीचे हिस्से में तो रहते थे मकान मालिक मिस्टर कृष्णचन्द्र व उनकी धर्मपत्नी प्रमिला देवी। ऊपरी हिस्से में केवल एक कमरा था और एक छोटी-सी छत थी, जिसमें शेवडे की गृहस्थी थी। कृष्णचन्द्र शेवडे से आयु में बहुत छोटे थे, रहे होंगे लगभग पचीस वर्ष के; और शेवडे और वह एक ही कम्पनी में काम करते थे। सुबह सात बजे दोनों काम पर चले जाते और शाम को सात बजे लौटना होता। दिन भर घर पर जो प्रमिला और चाँदनी को अकेले रहना पड़ता तो वह एक दूसरे के काम में हाथ बटाया करतीं। परिणाम यह हुआ कि अरसे से कृष्णचन्द्र व शेवडे एक ही कम्पनी में साथ काम करते रहने पर भी एक दूसरे के निकट उतने न आ पाये जितना आठ-दस दिन के अल्प समय में उन दोनों की स्त्रियाँ। कृष्णचन्द्र और प्रमिला में, जब वह रात को खाने-पीने से निबटकर सोने जाते रोज़ ही शेवडे व चाँदनी के बारे में बातें होती रहतीं। दोनों ही एकमत थे कि शेवडे और चाँदनी के विवाह में कुछ न कुछ रहस्य है, क्योंकि शेवडे के विवाह की कभी चर्चा तक नहीं, अकस्मात् तार पाकर उन्होंने बम्बई का एक चक्कर मारा और एक स्त्री लेकर चार-

पाँच दिन में ही वापस आये—ऐसी स्त्री जिसको मशाल लेकर ढूँढ़ने पर भी लोग जल्दी नहीं पा सकते। कभी-कभी रात के सन्नाटे में दोनों सुनते—शायद चाँदनी व शेवडे लड़ रहे हैं। पर क्या बातें हो रही हैं, यह उन लोगों को साफ न सुनाई पड़ता। लेकिन जब एक रात में दो-तीन बार चाँदनी के रोने की आवाज सुनाई दी, तो कृष्णचन्द्र अपनी शिष्टता व सभ्यता त्यागकर दबे पाँव ऊपर पहुँच ही गये। चाँदनी रो रही थी मराठी में, शेवड़े बकवास कर रहे थे मराठी में—और उस समय की मराठी कृष्णचन्द्र की समझ में न आ सकी, गोकि वह शेवडे की संगत में रहने के कारण थोड़ी-बहुत मराठी समझ लेने का दावा अवश्य करने लगे थे।

पर चाँदनी का भेद अधिक समय तक गुप्त न रह सका और एक दिन, जब कृष्णचन्द्र व शेवडे ड्यूटी पर गये हुए थे, प्रमिला के बहुत पूछने पर चाँदनी ने रो-रोकर अपनी सारी कथा कह सुनाई। अपनी माँ सेवा की मृत्यु से लेकर शेवडे से विवाह होने तक, और फिर शेवडे से रात में झगड़े होने के कारण भी, शेवडे चाँदनी पर अपने पति होने का अधिकार काम में लाने का प्रयत्न करते थे और चाँदनी रोकर, झगड़कर उनको दूर ही रखती थी। अपने कन्धे पर वह शेवडे को हाथ तक न रखने देती। शेवडे पूछते इसका मतलब, और इसका मतलब सुझाने की न तो चाँदनी में हिम्मत ही थी, न इच्छा। वह भी एक विकट परिस्थिति में थी। शेवडे के लिये उसके हृदय में जरा-सी भी जगह न थी, वह उनकी सूरत से घृणा करती थी। जब वह अपना प्रेम-प्रदर्शन करने उसकी ओर बढ़ते तो वह ऐसा काँपने लगती जैसे मौत सामने खड़ी हो, वह चाहती थी वह भाग जाय, शेवडे से दूर, बहुत दूर पहुँच जाय। पर वह उन्हें छोड़े भी तो

कैसे ? कहाँ जाय, क्या खाय, क्या करे। वह अपनी मौसी के पास लौटकर जा नहीं सकती। पीछे लौटने का रास्ता बन्द, और आगे बढ़ने के लिये कोई राह नहीं दिखती थी, राह थी ही नहीं।

चाँदनी की करुण कथा सुनकर प्रमिला को बड़ा दुःख हुआ, वह बहुत गम्भीरता से चाँदनी के विषय में सोचने लगी। उसने चाँदनी की कथा कृष्णाचन्द्र से न कही क्योंकि एक तो वह चाँदनी को वचन दे चुकी थी कि वह कृष्णाचन्द्र पर यह बातें प्रकट न करेगी, दूसरे वह स्वयं जानती थी कि कृष्णाचन्द्र चंचल प्रकृति का, आवेश में आकर सब कुछ उगल जाने वाला आदमी है। क्या पता वह शेवडे पर कभी आवेश में आकर चाँदनी और नारायण का प्रेमालाप प्रगट कर दे और उसका क्या परिणाम हो ! प्रमिला ने अब कृष्णाचन्द्र से चाँदनी के विषय में अधिक बातें करना भी बन्द कर दिया, पर कृष्णाचन्द्र अपने तईं, इन दोनों सहेलियों के बढ़ते हुए सम्बन्ध देखकर समझ रहे थे कि चाँदनी के विषय में प्रमिला को बहुत कुछ मालूम है और वह उनसे सब छिपा रही है। पर कृष्णाचन्द्र ने अपने मन का भेद प्रमिला पर कभी प्रगट न होने दिया।

× × ×

कृष्णाचन्द्र के एक बचपन के मित्र थे, चाँदनरायन। सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष की आयु होगी, लखनऊ में रहते थे। क्या करते थे यह तो नहीं मालूम, पर उनकी मासिक आय लगभग चार सौ से अधिक ही पड़ जाती थी। घर के रईस थे, उनके घर के अन्य लोग, पिता, चचा आदि बड़े लोगों में गिने जाते थे, पर चाँदनरायन कुछ अनोखे से जीव कहे व समझे जाते थे। घर भर से अलग एक बड़ा-सा मकान किराए पर लिये हुए रहते

थे और उस घर में उनके अलावा उनके सगे-सम्बन्धी जो कुछ भी थे सो उनके नौकर-चाकर। विवाह किया नहीं था। एक मुद्दत तक चाँदनरायन के माँ-बाप परेशान रहे, फिर निराश होकर वह चाँदनरायन के विवाह की बात ही छोड़ बैठे। लड़कियों के पिताओं ने भी चाँदनरायन को घेरना अथवा उनके घर का चक्कर लगाना छोड़ दिया और अब चाँदनरायन को लड़की वालों का रोना नहीं रोना पड़ता। विवाह के बारे में ही नहीं मनुष्य तथा समाज-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों के बारे में चाँदनरायन के अपने निराले दृष्टिकोण थे और जोरदार शब्दों में अपने विचारों को हर स्थान, हर अवसर पर प्रगटकर और उनका समर्थनकर उन्होंने अपना स्वयं का एक जत्था तैयार कर रखा था—वह जत्था जो चाँदनरायन के पीछे हर जगह जूझ पड़ने के लिये तैयार रहता था।

कृष्णचन्द्र और चाँदनरायन का साथ बहुत पुराना था और उन दोनों के बीच मित्रता के नाम का भी तकल्लुफ़ (यदि कुछ हो तो) न रह गया था। हर माह एक दो बार वह कानपुर अवश्य जाते और ऐसी ही कोई बाधा पड़ जाय तो दूसरी बात, वैसे माह में सात-आठ दिन कानपुर में ही बीतते थे। कृष्णचन्द्र उनको बड़े भाई की तरह मानते थे, और प्रमिला का उनसे कोई परदा न था। परदे के नाम पर तो तीनों की नामें सिकुड़ जाती थीं। और संयोगवश चाँदनी भी जो आज मिली, तो वह भी उस प्रान्त की जहाँ वाले संयुक्त प्रान्त के परदे को देखकर लगातार कई दिनों तक हँसते रहते हैं।

चाँदनी ने जब पहली बार चाँदनरायन को देखा तो उसे लगा—चाँदनरायन अच्छे लगते हैं। और अच्छे क्यों न लगें जब सृष्टि के आरम्भ से सारी दुनिया ही अच्छी सूरत पर जान

देती आई है। चाँदनरायन चाँदनी से कुछ कम सुन्दर न थे और नवपरिचितों पर प्रभाव जमाने व पूर्व परिचितों पर अपना प्रभाव बनाये रखने में चाँदनरायन की सुन्दरता का काफ़ी हिस्सा था। एक तो सौन्दर्य, फिर उसके साथ यदि प्रभावशाली वाणी की शक्ति भी हो, तो उस मनुष्य से अपने को दूर रखने की किसे इच्छा होगी, कौन दूर भाग सकता है? धीरे-धीरे चाँदनरायन और चाँदनी एक दूसरे के बहुत निकट आ गये और चाँदनरायन की उसके साथ भी उसी तरह निःसंकोच बातें होने लगीं जिस प्रकार प्रमिला के साथ। चाँदनरायन और प्रमिला के व्यवहार और बातचीत को सुनकर संयुक्त प्रान्त के परदानशीन लोग तथा परदे के समर्थक भले नाक-भौं सिकोड़ते रहे हों, पर कृष्णचन्द्र का चाँदनरायन के प्रति अन्धविश्वास था, जो दो-चार दिनों का नहीं, वरञ्च उस अन्धविश्वास को बरसों हो चुके थे और उसको जाँचने के लिये कृष्णचन्द्र को कभी कोई आवश्यकता न दिखी। कुछ सत्य सदा अन्ध विश्वास की नींव पर टिके हुए अपना अस्तित्व अमर ही रखते हैं और उसको जाँचने का प्रयत्न केवल अपने साथ धोखा करना होता था। मन का समुद्र-मंथनकर कोई रत्न ढूँढ़ निकालने वाले किसी पश्चिमीय मनोवैज्ञानिक का कहना है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य सेक्स-भावना द्वारा संचालित होते हैं, मनुष्य सेक्स-प्रधान है और स्त्री-पुरुष के बीच सेक्स के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं। पर चाँदनरायन और प्रमिला के सम्बन्ध उक्त कथन को बिल्कुल झूठ साबित करते थे। चाँदनरायन का कहना था कि यह अवश्य है कि प्रमिला स्त्री है, पर प्रमिला से बातें करते समय वह यह भूल जाता था कि वह स्त्री है, और कृष्णचन्द्र को चाँदनरायन की बात पर विश्वास था।

चाँदनरायन के प्रति चाँदनी की बढ़ती हुई श्रद्धा और भक्ति को प्रमिला अच्छी तरह जानती थी, और कृष्णचन्द्र से भी यह कुछ छिपा न था। प्रमिला यह भी समझती थी कि इन दोनों के बढ़ते हुए सम्बन्ध कहीं भविष्य में हो सकने वाले उत्पात के कारण न बन जायँ; एक तो शेवडे व चाँदनी के सम्बन्ध वैसे ही कौन बहुत अच्छे हैं, फिर यदि शेवडे के मन में इन दोनों के सम्बन्धों पर शंकाएँ उठने लगें, तो उसका परिणाम क्या होगा? फिर भी प्रमिला जान-बूझकर चाँदनरायन और चाँदनी को एक दूसरे से घुलने-मिलने की आवश्यकता से अधिक स्वच्छन्दता देती गई। इतना ही नहीं, वह मन ही मन यह भी चाहने लगी कि दोनों इतने घुलमिल जायँ कि फिर अलग न हो सकें। प्रमिला का मन किस तरह और किस ओर काम कर रहा था यह समझना जितना ही कठिन था, उतना ही सरल। इन दोनों की घनिष्ठता बढ़ने में प्रमिला का क्या स्वार्थ? और यदि स्वार्थ हो भी तो केवल इतना कि वह चाँदनी जैसी फूल-सी कोमल, सुन्दर, भावुक और दुखी लड़की के डूबते हुए जीवन को फिर से सम्हलते देखना चाहती थी। उसके निकट विवाह का बन्धन तभी तक सुन्दर था जब तक वह अपनी शृङ्खलाओं में बँधे दो प्राणियों के जीवन को सुखी रख सके। यदि उस बन्धन में जकड़े रहकर दोनों प्राणियों का जीवन नरक-तुल्य हो रहा हो तो वह उस बन्धन को तोड़ देने ही में कल्याण समझती थी। धर्म और कर्तव्य के नाम पर अपने जीवन को निरन्तर कष्टमय बनाये रखने के आदर्श का उसके निकट कोई मूल्य नहीं था। बिना अधिक तर्कों के जाल में फँसकर उसकी मोटी बुद्धि ने सोचा—चाँदनरायन अविवाहित हैं, और मनुष्यता के अन्तर्गत आने वाले सभी गुण उनमें मौजूद हैं। चाँदनी के पास सौन्दर्य

है, उसमें सौन्दर्य मूर्तिमान् है, उसका हृदय भी सुन्दर है और चाँदनरायन की भावनाओं, अभिलाषाओं को विवाह के लिये चाहिये ही क्या ? यदि चाँदनी के हृदय पर चाँदनरायन छा गये और चाँदनरायन को अपने दान का प्रतिदान मिल जाय तो हर्ज ही क्या है। चाँदनी शेवडे को छोड़कर चाँदनरायन से विवाह कर ले, और चाँदनरायन विवाह कर लेंगे, इस बारे में प्रमिला को तनिक भी शंका नहीं थी।

कुछ तो सदैव का क्रम और कुछ चाँदनी में चाँदनरायन की विशेष दिलचस्पी—अब कानपुर में वह अधिक ठहरने लगे। सुबह सात बजे कृष्णचन्द्र व शेवडे काम पर चले जाते और शाम को वह जब तक लौटकर न आते, दिन भर प्रमिला, चाँदनी और चाँदनरायन की खूब छना करती। कभी दिन भर ये तीनों कानपुर घूमा करते, कभी घर ही में घुसे रहते। शाम को जब शेवडे और कृष्णचन्द्र लौटकर आते तो चाँदनरायन-कृष्णचन्द्र से दिन की सारी दास्तान कह सुनाते। शेवडे से चाँदनरायन की बातें होतीं अवश्य, पर निहायत तकल्लुफ़ से भरी हुई केवल आवश्यक बातें जिनका चाँदनी से कोई सम्बन्ध न होता। प्रमिला ने चाँदनरायन से चाँदनी के विवाह पूर्व का सारा इतिहास कह सुनाया था, सो चाँदनरायन के द्वारा कृष्णचन्द भी उसे जान गये। कृष्णचन्द्र ने थोड़ी देर 'ट्रैजेडी, इम्प्रेसिव' आदि शब्दों से अपनी भावनाएँ प्रगटकर उस कहानी को भुला दिया और कुछ समय तक चाँदनी की बीती बातें उनके ध्यान में भी न आईं।

प्रमिला कुछ समय तक जब प्रतीक्षा के बाद भी यह न जान पाई कि चाँदनरायन और चाँदनी के बीच जो खिचड़ी पक रही है उसका कुछ अर्थ भी है या नहीं, तो वह व्यग्र हो

उठी और उसने स्वयं बात उठानी चाही। उसके तरीक़े भी बड़े अनोखे थे। एक ओर तो उसने चाँदनरायन से यह कहना आरम्भ किया कि चाँदनी उनके विषय में बहुत पूछा करती है कि चाँदनरायन ने अभी तक विवाह क्यों नहीं किया, कैसी लड़की चाहते हैं, और स्वयं ही वह चाँदनरायन से कहने लगी! 'तुम उससे विवाह कर लो, वह बेचारी बड़ी दुखी है, तुम्हें बहुत चाहती है। तुम कहो तो मैं उससे पूछूँ, उसे तैयार कर लूँ।' और दूसरी ओर वह इसी प्रकार चाँदनरायन के प्रति चाँदनी की भावनाओं को टटोलती, और उभारने का प्रयत्न करती। पर तमाशा यह कि एक दूसरे के बारे में अपनी भावनाओं अथवा अभिलाषाओं के विषय में दोनों ही मौन रहते, विशेषकर जब वह विवाह की चर्चा छेड़ती।

एक दिन जब प्रमिला ने चाँदनरायन से सीधा प्रश्न किया कि वह चाँदनी को क्या समझते हैं—उसके साथ जो अपना सम्बन्ध जोड़े हैं तो उसे क्या समझकर जोड़े हैं, तो चाँदनरायन ने उत्तर दिया—'प्रमिला, मैं जो हूँ सो हूँ, पर एक बात में दुनिया से कुछ अनोखा हूँ। जहाँ तक किसी लड़की से मेरे सम्बन्ध की बात होती है, मैं तब तक उसे कुछ भी नहीं समझता या समझाता हूँ जब तक यह नहीं समझ लेता कि वह मुझे क्या समझती और समझाती है।' प्रमिला ने जब चाँदनरायन के उत्तर को शब्दों का जाल बताकर उनका सिर खाने लगी तो चाँदनरायन बोले—'प्रमिला, एक स्त्री, जिसका मन किसी के बन्धन में हो, तन किसी के बन्धन में हो, वहाँ किसी के लिये कुछ भी नहीं है।' प्रमिला न तो चाँदनरायन के उत्तर से ही कुछ अर्थ निकाल पाई, और न चाँदनी से ही कोई साफ़ बात जान सकी।

इधर तो इस तरह नाटक चलता रहा, और उधर विष्णु शेवडे उतने मूर्ख व भोले न साबित हुए जितना उन्हें समझा गया था। उन्होंने अपने आप चाँदनी में कुछ परिवर्तन अनुभव किया; और वह यह, कि वैसे तो वह सदा उदास, मुरझाई हुई रहती, बिल्कुल गुमसुम पड़ी रहती, पर जब लखनऊ से चाँदनरायन आते, तो जब तक वह रहते, चाँदनी बड़ी ही प्रसन्न दिखती। उनके मन में शंकाएँ पैदा होने लगीं और एक छोटी-सी घटना ने उनकी शंकाओं को और भी पक्का कर दिया। एक शाम को सब लोग सिनेमा देखने गये। शेवडे ने पान खरीदे और चाँदनी की ओर बढ़ाये तो उसने कहा, 'मैं नहीं खाती।' शेवडे के कई बार कहने पर, कसमें दिलाने पर भी उसने पान नहीं लिये। इन्टरवेल में चाँदनरायन ने पान लिये और चाँदनी की ओर हाथ बढ़ाया तो उसने पहले तो इन्कार किया, पर ज्योंही चाँदनरायन ने कहा, 'तुम्हें खाना पड़ेगा, तुम्हें हमारी क़सम', तो उसने पान लेकर खा लिया। शेवडे चोटी से एड़ी तक जल उठे, पर चुप रह गये। और जब कम्पनी में एक दिन इसी बात को लेकर कृष्णचन्द्र से चाँदनरायन व चाँदनी के बारे में शेवडे उलझ पड़े, तो आवेश में आकर कृष्णचन्द्र ने कह डाला कि शेवडे के साथ चाँदनी का तो ज़बरदस्ती विवाह किया गया है, वह उससे विवाह करना ही कब चाहती थी, और इसी सिलसिले में वह नारायण की बात भी कह गये। ऐसी बातें सुनकर कभी इन्सान जानवर बन जाता है और कभी जानवर इन्सान हो जाता है। शेवडे उस समय अपने को क्या समझाने का प्रयत्न कर रहे थे, यह किसीको नहीं मालूम। पर उस दिन से शेवडे कुछ भयानक अवश्य दिखने लगे थे। उनके

मुख पर कुछ ऐसी ख़ामोशी छा गई थी जैसे समुद्र में तूफ़ान आने के पहले अक्सर अनुभव होती है।

दूसरे ही दिन, दोपहर को करीब एक बजे अचानक शेवडे काम पर से आ गये। मकान के बाहरी दरवाजे में साँकल न लगी थी। धीरे से उसे खोला और चुपके से भीतर आये। देखा—नल के पास उनकी ओर पीठ किये बैठी हुई प्रमिला कपड़े छाँट रही है। इधर-उधर उन्होंने देखा, चाँदनी अथवा चाँदनरायन कोई भी नज़र न आया। दबे पैर वह ज़ीने पर चढ़े और ऊपर जाकर, कमरे के पास खड़े होकर, खिड़की की दराज़ से अन्दर झाँका। उन्होंने देखा—पलंग पर चाँदनरायन बैठे हैं और उनकी गोद से चिपकी हुई चाँदनी रो रही है, उसकी सिसकियाँ शेवडे को साफ़ सुनाई दे रही थीं। चाँदनरायन चाँदनी के सिर पर, गालों पर हाथ फेर-फेरकर उसे चुप कर रहे थे। और...

और चाँदनरायन अथवा चाँदनी को शेवडे का आना तब मालूम हुआ जब वह पलक मारते-मारते तूफ़ान की तरह कमरे में घुसे, मेज पर रखा रामपुरी चाक़ू उठाकर झपटे, और तेजी के साथ चलाये गये दो-तीन हाथों के वार से ख़ूनाख़ून होकर चाँदनी तड़पने लगी। चाँदनरायन ने चाँदनी को बचाने का बड़ा प्रयत्न किया, और अपने को भी। पर चाँदनी न बच सकी, वह बच गये। शेवडे न जाने क्या समझकर चाँदनरायन को छोड़कर भाग खड़े हुए नहीं तो उनके जैसे हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले से चाँदनरायन का कोई मुक़ाबला न था।

कानपुर के रहने वाले क़रीब-क़रीब सभी जानते हैं कि घर से भागकर, ख़ून से भरा हुआ चाक़ू लिये शेवडे सीधे कोतवाली पहुँचे, बिना कोई कारण बताये यह स्वीकार कर लिया कि

उन्होंने चाँदनी की हत्या की, अदालत में भी केवल यही कहा और फाँसी पर चढ़कर चले गये; पता नहीं जहाँ चाँदनी को भेजा था वहीं, अथवा कहीं और। और कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर चाँदनी की पूरी कहानी अभी तक तो किसी को भी न मालूम हो सकी।

◆

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल